वेदान्त-कुञ्जी–

स्वामी श्रीरामाश्रमजी परमहंस 'राम'

सविनय समर्पण

हे सद्गुरो ! हे कृपालो ! आपके चरण-कमलों में मेरे कोटिशः साष्टांग प्रणाम स्वीकृत हों । भगवन् ! क्या आपकी अपार महिमा का अन्त है ? क्या आपके अनन्त उपकारों का वर्णन हो सकता है ? सरकारी आनन्द-विग्रह, शान्त-स्वरूप, सौम्य मूर्ति तो सदा-सर्वदा एक-सी बनी रहती है । भला, उस दिव्य-स्वरूप की उपमा ही क्या हो सकती है ! क्या उसकी समता सूर्य कर सकता है ? जी नहीं, यद्यपि वह सांसारिक तिमिर का नाश तो कर देता है, तथापि वह अविद्या-रजनी के नाश करने में तो सर्वथा असमर्थ है तथा वह उदय-अस्त होता रहता है और जगत् के ताप का हेतु भी है; परन्तु हे ज्ञानसूर्य ! आप तो इस जीव को जन्म-मरण के चक्कर में डालनेवाली अन्धकाररूपी अविद्या के नाशक एवं उदय-अस्त-विहीन हैं और आपमें तो ताप का कभी दर्शन ही नहीं होता । अजो ! आप प्रकाश-स्वरूप पूर्ण के सामने घटने-बढ़नेवाला चन्द्रमा क्या चीज़ है ! उसका तो कभी राहु भी ग्रास कर लेता है तथा वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित रहता है और दिन में द्युतिहीन हो जाया करता है ।

हे पूर्णकाम ! यद्यपि कल्पतरु मनोवांछित फल देता है सही, तथापि वह जड़ ही तो है, तथा वह अर्थ, धर्म एवं काम को तो देता है, परन्तु मोक्ष को तो दे ही नहीं सकता । वह दे कहाँ से सके ? भला, जो व्यक्ति स्वयं बन्धन में है, वह दूसरे को मुक्त ही कैसे कर सकता है ?

और वह देवतरु तो किसी की अभिलाषा को रोक भी नहीं

सकता। भले ही कोई दुःखद वस्तु माँग डाले, वह तो देने पर ही तैयार है। कोई भले ही अग्नि में कूद पड़े, कुएँ में जा गिरे, दलदल में फँस मरे, उसे तो परवाह ही नहीं, वह कभी रोकता ही नहीं।

कल्पवृक्ष तो उस वैद्य के समान है, जो इलाज करने तो चला हो, परन्तु रोगी को कुपथ्य सेवन से बचाता ही न हो, अपितु उसे मनमाना पथ्य दे देता हो। क्या यही उपकार है ? क्या यह मित्रतारूप में कट्टर शत्रुपना नहीं है ? क्या इससे रोगी का कल्याण हो सकता है ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। परंच हे दयामय ! हे परमहितैषी मित्र ! हे भव-रुज के नाशक सच्चे वैद्य ! आप तो मुक्ति के दाता हैं त्रिविध तापों से तप्यमान जीवों के लिये आपकी कृपा एकमात्र शीतल छाया है। आपने तो कभी अपकार सीखा ही नहीं; आप तो अपने भक्तों को कभी कामना की कीचड़ में फँसने ही नहीं देते; मोह-दलदल से तो अलग करके ही छोड़ते हैं।

आप भवरोग से ग्रसित सेवकों को विषयरूप कुपथ्य से बचा लेते हैं। उनके हृदय-स्थल में वैराग्याग्नि को प्रदीप्त करके वासना के कूड़े-करकट को भस्मीभूत कर देते हैं और उन्हें अभ्यास की औषधि देकर भव-रोग का समूल नाश करके ही छोड़ते हैं।

देव ! क्या आपकी गम्भीरता को समुद्र पा सकता है ? जी नहीं, उसमें तो हमेशा ज्वार-भाटा आते रहते हैं तथा उसके हृदय को बड़वा-नल जलाता रहता है। परन्तु आप अविकारी में तो ज़रा भी कामना की लहर नहीं उठती, और आपका हृदय तो विज्ञानानन्द घनामृत से सदा-सर्वदा शीतल रहता है।

पारस बेचारा यद्यपि लोहा जैसे कुधातु को भी कंचन कर देता है, तथापि उसने तो आजतक किसी भी धातु को अपना रूप नहीं दिया।

परन्तु हे शोकापहारी गुरो! आप सच्चे अधिकारियों को अपना शुद्ध स्वरूप करके ही छोड़ते हैं। आप आनन्द-पारस के छू जाते ही जीव आनन्दमय हो जाता है।

हे संसार-सागर से पार करनेवाले चतुर नाविक! ऐ जीव-ब्रह्म के चिरकालिक वियोग को संयोग करा देनेवाले अविनाशी स्वरूप! राम पर कृपा कीजिए, कृपा कीजिए! इस राम को तो बस, उस अमृत-वर्षिणी कृपादृष्टि ही की आशा है। यदि एकबार भी उस दृष्टि का प्रसाद मिल जाय, तो राम निहाल हो जाय। मुझे तो उस दृष्टि से ही अमरता मिल जायगी।

आप मेघ की कृपामृत दृष्टि के पात होते ही जिज्ञासुओं के हृदय-स्थल में ज्ञान का अंकुर फूटने लगता है। फिर वह उपदेश-जल पाकर पुष्ट हो जाता है। ज्ञान के परिपक्व होते ही उसमें अद्वैतामृत रस से भरा हुआ बोध का फल आ लगता है। फिर तो कहना ही क्या है? उस अद्वैत-रस का पान करते ही जिज्ञासु मस्त हो जाते हैं। वे जिज्ञासु, अब जिज्ञासु नहीं रह जाते; बल्कि वे पूर्णकाम बन जाते हैं। वे तृप्त हो जाते हैं, उन्हें कृतकृत्यता मिल जाती है।

हे दयामय! हे अच्युत! राम की सामर्थ्य ही कहाँ है कि आपकी स्तुति कर सके। यह तो जो कुछ कहता आया है, वह सब सरकारी प्रेरणा ही का फल है। जो प्रेरक ने कहलाया, वह कह डाला और आगे जो कहायेगा, वही कहेगा।

अजी! जो स्वर हारमोनियम से निकलता है, वह क्या उस हारमोनियम का होता है? जी नहीं, वह तो बजानेवाले की तारीफ़ है। फोनोग्राफ में भी स्वर भरनेवाले की ही महिमा रहती है। वैसे ही आपने जो कुछ इस राम के हृदय में ज्ञान दिया है, उसीके अनुसार तो कह

रहा है; इसमें राम तो त्रुटि-अत्रुटि तथा शुद्धाशुद्ध का विचार नहीं रखता। इस वक्तृता के गुण-दोषों की ज़िम्मेदारी राम को नहीं है। भला, बेचारी कठपुतली का दोष ही क्या हो सकता है? वह तो उस सूत्रधार (मदारी) के अधीन रहती है, जिसके इशारे पर नाचती रहती है।

हे प्रेरक! आप इस शरीर-यंत्र को जिस प्रकार चला रहे हैं, यह वैसे ही चल रहा है। अरे! जीव बेचारे इस रहस्य को भूलकर आप निर्विकारी के प्रेरकत्व को अपना मान बैठते हैं, इसीसे तो गुण-दोषों के भोक्ता हो जाते हैं।

भगवन्! यदि आप इस शरीर से 'वेदान्त की कुञ्जी' तैयार कराना चाहते हैं, अथवा इस शरीर-यंत्र में प्रवेश कर स्वयं ही लिखना चाहते हैं, तो करा डालिये; लिख डालिये। जो करना हो, सो कर डालिये। मैं इसमें हस्तक्षेप नहीं करता, मैं तो ज़रा भी 'ननु-नच' नहीं कर सकता। मुझे आपके खेलों से ज़रा भी इन्कार नहीं, आप मनमाना खेला करें; राम को तो इसमें सुविधा है, आराम है, विश्राम है, तथा कल्याण है। राम आपके इस खेल को, इस कारीगरी को, आप ही के चरण-कमलों में सविनय समर्पण करता है। आशा है कि सरकार इसे स्वीकार करेंगे, क्योंकि अपना खेल, अपनी वस्तु सबको प्यारी होती है। ॐ आनन्द

भवदीय

रामाश्रम

कुञ्जी

श्रीमान् बाबू हरीरामजी अग्रवाल
रईस, ताल्लुक़ेदार मवैया—इलाहाबाद

दो शब्द

आज मुझे श्री० श्रद्धेय महात्माजी की इस पुस्तक पर दो शब्दों के लिखने का अवसर प्राप्त हुआ है, यह मेरा सौभाग्य है। मुझे इस पुस्तक के सध्यान देखने का भी अवसर मिला और इस रूप में कि मुझे ही इसके प्रूफ़ देखने पड़े। पुस्तक के देखने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। विषय बड़ा ही गूढ़ और गम्भीर है। साधारण व्यक्तियों की समझ की तो चर्चा ही क्या, जब इस विषय के समझने में बड़े-बड़े विद्वान् भी चकित-से रहते हैं। वेदान्त का सिद्धान्त अपनी गूढ़ता के लिये प्रसिद्ध ही है। महात्माजी ने उसी गहन सिद्धान्त को इस पुस्तक में बड़ी ही योग्यता, स्पष्टता और सरलता के साथ सर्वसाधारण के योग्य बना दिया है। वस्तुतः यह कार्य ऐसे ही महापुरुषों का है, जिन्हें न केवल इस गूढ़ अध्यात्म-शास्त्र और गहन ब्रह्मवाद का साङ्गोपाङ्ग मार्मिक ज्ञान ही प्राप्त है, वरन् इसका यथार्थानुभव भी है।

पूज्य महात्माजी ने इस पुस्तक के द्वारा जिज्ञासु-वृन्द का बहुत बड़ा उपकार किया है, इसमें सन्देह नहीं। इसके लिये उन्हें जितना भी साधुवाद तथा धन्यवाद

दिया जावे थोड़ा ही है; यद्यपि वे इसकी कुछ भी इच्छा नहीं रखते। क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतयः' तथा 'ज्ञानाय सत्याय सतां प्रयत्नः' उनका सिद्धान्त है। महात्मा लोग अपनी ज्ञान-निधि से संसार को सदैव सम्पन्न करते आये हैं और करते रहेंगे। यही हमारे पूज्य महात्माजी ने भी किया है।

यद्यपि इस पुस्तक से साधारण जिज्ञासुओं को वेदान्त का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जायगा, किन्तु पूर्ण सन्तोष न मिल सकेगा और मेरी ही तरह उन्हें भी और अधिक रसास्वादन की उत्कट अभिलाषा और आशा रहेगी। इसी अनुमान से मैं महात्माजी से यह निवेदन करूँगा कि वे इसी प्रकार भारतीय अध्यात्म-विद्या से जनता को पूर्णतया परिचित कराने का कष्ट करके कृतार्थ करने की कृपा करते रहें। पुस्तक के विषय में कुछ अधिक न कहकर मैं उसके सुयोग्य जिज्ञासु पाठकों के ही ऊपर इसे छोड़ता हूँ कि वे स्वयमेव इसका आस्वादन कर आनन्दानुभव करते हुए इसके महत् तत्व को देख लें।

कृपाकांक्षी

हरीराम अग्रवाल

भूमिका

मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णाः
त्रिभुवनमुपकार-श्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वती कृत्य नित्यं
निज हृदि विकसंतः सन्ति सन्तः क्रियन्तः॥

समय, भाग्य एवं प्रकृति, निरवधि, दुरतिक्रम और परिवर्तनशील हैं। इनमें कभी भी किसी का साम्राज्य नहीं होने का। अन्यथा उस पूर्ण ब्रह्म के इस कार्य-स्वरूप अखिल ब्रह्माण्ड को जगत् या संसार क्योंकर कहते? अस्तु।

इन्हीं समय, भाग्य तथा प्रकृति की प्रेरणा से, अद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक स्वनामधन्य, प्रातःस्मरणीय श्री १०८ स्वामी रामाश्रमजी परमहंस ने, जिनका दर्शन तीनों काल (भूत, भविष्य और वर्तमान) में हम शरीरियों के लिये अमोघ फल को देनेवाला है, दर्शन दिया—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीय दर्शनं,
व्यनक्तिकालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

'वर्तमान काल में आपका दर्शन सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर देता है, भावि शुभ.का कारण है; (हमारे) पूर्व के आचार व्यवहार अच्छे ही थे, जिनके द्वारा आपका दर्शन हुआ।' इस प्रकार आपका दर्शन तीनों कालों में अद्भुत योग्यता प्रदान-करता है। अस्तु ;

लोगों के विशेष आग्रह से श्री स्वामीजी ने 'प्रयाग' के पूर्व, क़रीब १५ मील की दूरी पर, 'वैद्यपुर' ग्राम में चतुर्मास व्यतीत किया—

विलोकनेनैव तवामुना मुने
कृतः कृतार्थोऽस्मि निवर्हितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसी-
गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥

'भगवन्! आपके दर्शन से ही हम लोग कृतार्थ हो गये हैं, तथापि श्रेयस्कर विषय की श्रवणेच्छा मानव-शरीर में सदा जागरूक रहती है; क्योंकि कल्याण के

विषय में किसी की भी तृप्ति अद्यावधि सुनने में नहीं आई ।'

फलस्वरूप उधर से भगवान् इन्द्र ने सन्तोष-प्रद वर्षा करके वसुन्धरा को तृप्त किया; इधर से आपने भी 'वेदान्त-कुञ्जी' की पीयूषधारा से समस्त परमानन्द के प्यासे जिज्ञासुओं को तृप्त किया। इस ग्रन्थ को आपने जगत्-कल्याण के लिये हिन्दी भाषा में लिखा है। इसमें वेदान्त-सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही सरल युक्तियों तथा सुचारु रूप से किया गया है। यद्यपि वेदान्त के अनेकों ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी में उपलब्ध हैं, तथापि संस्कृत के ग्रन्थों से जनता का विशेष उपकार नहीं है; क्योंकि वर्तमान समय में यह भाषा किसी-किसी की है, सो भी गौण रूप से। और हिन्दी के ग्रन्थ भाषा, युक्ति एवं प्रमाणों की विशेष जटिलता के कारण सर्व-साधारण के लिये दुर्बोध से हो गये हैं। परन्तु इस प्रकृत ग्रन्थ में इन सब दोषों से बचने के लिये विशेष ध्यान दिया गया है। भला, 'कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करा-द्युपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सित शर्करादि प्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्' 'कड़वी औषधियों से शान्त होने-

वाला रोग यदि सित, शर्करादि मीठे पदार्थों से दूर हो जाय, तो कौन ऐसा रोगी है, जो जान-बूझकर उन कड़वी औषधियों का सेवन करेगा ?'

इस ग्रन्थ में वेदान्त के प्रायः सभी सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। सर्व प्रथम मंगल पाठ किया गया है, जो कि समाप्ति-साधन का उपकरण एवं शिष्टाचार (अर्थात् 'शिष्या अप्येवं कुर्युः') का परम्परोपदेशक है। तदनन्तर 'चेतावनी'; इस विषय के लेख में अविद्या-रात्रि में सोये हुए जीव को चेताया गया है, उसके असली रूप को समझाया गया है; तथा उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिये साधन में लग जाने के लिये प्रोत्साहन दिया गया है। पुनः किसी भी विषय को अच्छी प्रकार जानने के लिये, पहले उसके सिद्धान्तों का ज्ञान संक्षेपतया कर लेना परमावश्यक होता है; अतः इस विषय पर भी 'वेदान्त-रहस्य' के नाम से दूसरा अध्याय लिखा गया है। उसके बाद 'जीव का बन्ध-मोक्ष' इस प्रकरण के उचित अध्ययन से इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि वास्तव में जीव का न तो कोई बन्धक है, और न कोई मोचक; प्रत्युत अपनी ही वृत्ति, अपनी ही भावना बन्ध-मोक्ष किया

करती है। पुनः 'अचिन्त्य शक्ति से सृष्टि' इस शीर्षक में यह समझाया गया है कि ब्रह्म निर्गुण एवं निष्क्रिय है, अतएव वह स्वरूप से कुछ नहीं करता; अपितु उसमें इच्छा, सृष्टि आदि की प्रतीति अचिन्त्य शक्ति ही के द्वारा हो रही है। और 'ईश्वर अन्यायी क्यों?' इस प्रकरण में यह दिखलाया गया है कि एक ही ईश्वर अपनी माया के द्वारा जीव, कर्ता, कर्म तथा भोक्ता आदि के रूप में स्वयं हुआ है, अतएव उस पर, जीवों से कर्म कराना तथा उन्हें ऊँच-नीच योनियों में जन्म देकर सुख-दुःख का प्रदान करना इत्यादि विषमता का दोषारोपण बन ही नहीं सकता। तथा 'वृत्ति-वन्दना' में तो वृत्ति को जगन्नियन्ता परमेश्वर का रूप समझकर बड़े सुचारु ढंग से उसकी वन्दना की गयी है। तदनन्तर 'वृत्ति क्या है?' इसमें वृत्ति का स्वरूप तथा उसके कार्यों का भली भाँति वर्णन किया गया है। फिर 'वृत्ति का ईश्वर-जीव बनाना' इस प्रकरण में यह बतलाया गया है कि एक ही अद्वितीय चैतन्य परमात्मा माया-वृत्ति तथा अविद्या-वृत्ति के कारण से ही क्रमशः ईश्वर और जीवों के रूप में प्रतीत हो रहा है। उसके बाद 'आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर'

इस शीर्षक को क, ख और ग, इन तीन विभागों में करके इनमें वेदान्त विषयक शंकाओं का समाधान बड़ी ही सरलता एवं सुस्पष्टतया किया गया है। पुनः 'ओङ्कारोपासना' इसमें ॐकार को ब्रह्म-प्रतीक मानकर इसकी महिमा का वर्णन करते हुए इसकी उपासना के नियम तथा इसके अकारादि मात्राओं की उपासना से विराट और हिरण्यगर्भादि देवताओं के रूपों की प्राप्ति तथा अमात्ररूप निर्गुण निराकार ब्रह्मात्मा की उपासना से ब्रह्मरूपतारूप मुक्ति बतलायी गयी है। तदनन्तर 'चेतन का नानात्व' इस प्रकरण में यह लिखा गया है कि एक ही चैतन्य परमात्मा को मिथ्या उपाधियों ने अनेक-सा कर दिखलाया है। उसके बाद 'वृत्तिज्ञान के भेद (अ)' इस लेख में यह दर्शाया गया है कि वस्तुतः ज्ञान एक ही है, परन्तु नाना वृत्तियों के कारण उसके अनेक भेद हो जाते हैं। तथा 'वृत्तिज्ञान के भेद (आ)' इस शीर्षक में 'प्रमावृत्ति' के विस्तार का वर्णन है। फिर 'वृत्ति-ज्ञान के भेद (इ)' इस प्रकरण में 'अप्रमावृत्ति' का परिचय भलीभाँति दिया गया है। और 'असूया' के लेख में तो निन्दा तथा निन्दकों का वर्णन और पराये

अवगुणों दोषों को देखने सुनने एवं कहने से जो दुष्परि-णाम होता है, उसका अच्छी प्रकार से प्रतिपादन किया गया है।

प्रिय पाठक मुमुक्षु-वृन्द! विदित हो कि इस 'वेदान्त-कुञ्जी' के प्रकाशन का भार श्रीस्वामीजी के अनन्य भक्त, उदार-चेता, महानुभाव, श्रीमान् बाबू हरीराम जी अग्रवाल, रईस ताल्लुक़ेदार मवैया इलाहाबाद, अपने ऊपर लेकर पुण्य तथा कीर्त्ति के भाजन बने हैं। आप बड़े ही धर्म्म-परायण तथा साधु-सेवी एवं प्रजा-पालक पुरुष हैं। ईश्वर आपके जगत्-कल्याण की भावना की वृद्धि करे।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि।
त्वं पिता पितरस्तासां केवलं जन्म-हेतवः॥

'प्रजाओं के विनयाधान (शिक्षा-प्रदान), रक्षण तथा भरण-पोषण से आप ही पिता हैं। आपकी प्रजा जिनको पिता समझती है, वे तो केवल जन्म के ही कारण हैं।

साधु-सन्त भक्ति होवै प्रजा अनुरक्ति होवै,
रमारानी सहित रमेश रमते रहें।

भीति में बनाये चित्रपट के समान तव,
विपुल विरोधियों के दल बनते रहें।
आपके 'प्रभाकर' प्रतापसिंह नाद सुनि,
वैरिदल जम्बुक समान डरते रहें।
पूर्ण सब काम नाम यश भरिपूर होवै,
हरि की प्रसन्नता से यम डरते रहें।

इति शम्, ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

विक्रमीय सं० १९९६
भाद्रपद शुक्ल ३
शनिवार

श्रीमान् पं० भानुप्रताप जी शुक्ल
व्याकरणाचार्य
प्रधानाध्यापक 'श्रीनाथ संस्कृत पाठशाला'
सिरसा (प्रयाग)

विषय-सूची

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

वेदान्त-कुञ्जी

मंगलाचरण

हे परमात्मरूपा सरस्वती! तुझे करबद्ध शिर से प्रणाम करता हूँ, तू इस राम पर कृपा कर। हे समष्टि-बुद्धिरूपे! हे ज्ञानदातृ! हे सर्वान्तर्यामिनि! अब तू दया कर, दया कर, हे सर्वहृदयप्रकाशिनि! हे सर्व-उत्प्रेरके! तू इस राम के हृदय-कमल में अपने शुद्ध सात्विक रूप का उद्भव कर, जिससे वक्तृता अच्छी हो। यह राम जिज्ञासुओं के लिये कुछ कहना चाहता है; यदि तू शुद्ध सात्विक बुद्धि इसे न प्रदान करेगी, तो भला, इस राम की व्याख्या संशय तथा विपर्यय से रहित, सरल, मधुर, स्पष्ट एवं प्रभावशाली कैसे होगी? अतएव राम का बार-बार विनम्र निवेदन है कि इसे तेरी प्रसन्नता का प्रसाद मिलना चाहिये। ॐ सरस्वत्यै नमः।

कुण्डलिया

सतचितरूप सनातनी, अजा प्रकृति श्रुति-धाम।
दारुण भव-भय-हारिणी, जपैं तिहारो नाम॥
जपैं तिहारो नाम, मातु सब संकट भागैं।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि, आदि बाधा सब त्यागैं॥
मुद - मंगल - विश्राम, पाइ छाँड़ैं भव-कूपा।
शरणागत तव 'राम', शारदे सत-चित-रूपा॥१॥

जगदम्बे! परमेश्वरी, महिमा अगम - अपार।
वीना-धारिनि पीतपट, कटि-किङ्किनि-झङ्कार॥
कटि-किङ्किनि-झङ्कार, नुपुर पग, कङ्कन कर मैं।
कुण्डल करन-प्रकास, मालमणि-मोतिन गर मैं॥
राजहंस तव वास, 'राम' कहँ तू अवलम्बे!
बुद्धि-ज्ञान वर देहु, आस बस तव जगदम्बे! ॥२॥

चेतावनी

ऐ भोले जीव! उठो! जागो!! अज्ञान-निद्रा को त्यागो!!! प्यारे! इस अज्ञान-निद्रा में भ्रान्ति की शय्या पर पड़े हुए कब तक घर्राटें लगाते रहोगे? पड़े-पड़े क्यों सड़ रहे हो? तम मनुष्य, पशु, पक्षी नहीं हो; तुम्हारा रूप

परिच्छिन्न नहीं है; तुम अपने को साढ़े तीन हाथ की काल-कोठरी रूपी शरीर में क्या बन्द किये हुए हो ? प्यारे ! तुम अपने अखण्ड स्वरूप का ध्यान करो ! संसार में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं, जो तुम्हें सीमित कर सके; कोई भी ऐसा क़ानून नहीं, जो तुम्हारी मर्यादा को भंग कर सके; काल की मजाल नहीं कि तुम्हें मार सके; मृत्यु तो तुम्हारे भय से काँप रही है; यमराज तुम्हारे शासन में है; सूर्य-चन्द्र-तारे आदि तुम्हारे ही इशारे से आकाश के लट्टू हो नाच रहे हैं; वायु तुम्हारे लिए पंखे का काम दे रही है; वृक्षों की पत्तियाँ भी तुम्हारी ही आज्ञा से हिल रही हैं; उषाकाल की लाली का उदय तुम्हारे ही लिये होता है; तुम्हारी प्रसन्नता की ही कांति के देखने को पुष्प-वाटिकायें प्रतिदिन खिला करती हैं; अधिक क्या कहें, यह समस्त ब्रह्माण्ड तुम्हारा ही मुखोपक्षी बन रहा है। सबके शासक, सबके नियन्ता बस तुम हो। तुम अपने सत्यरूप का अनुभव करो, उसे पहचानो, तब देखोगे कि यह बात यथार्थ है या नहीं ? यथार्थ तो है ही। संसार के समस्त नियम चाहे टूट जायँ, अग्नि भले ही शीतल हो जाय, चन्द्रमा चाहे अग्नि की वर्षा करने लग जाये,

आकाश में भले ही बगीचा लग जाय, सिंह को मार कर चाहे स्यार खा जाय,इस प्रकार चाहे संसार की सारी बातें उलटी हो जायँ; परन्तु तुम्हारे अविनाशीस्वरूप में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ सकता, तुम्हारी अचलता तथा पूर्णता में रंच भी विकार नहीं आ सकता, तुम्हारी निष्कलंकता में कलंक लग ही नहीं सकता; हाँ सब प्रकार तो तुम पूर्ण है, कमी केवल है तुममें सत्य ज्ञान, और अपनी पूर्णता के पहचानने की।

अजी! तुमने तो अपने को आप ही दुःख के कीचड़ में फँसा रखा है, अपने को आप ही बाँध रखा है। यदि तुम पूछो कि यह कैसे है! तो सुनो। जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही आप तो कोश बनाता है और उसमें आप ही फँस जाता है, वैसे ही तुम भी अपनी ही कल्पना से प्रपंच रचकर उसमें आसक्त होकर दुःखी हो रहे हो। जब बहेलिया लकड़ियों को ज़मीन में गाड़कर ऊपर से नली (फोंफी) लगा देता है और उसके नीचे पृथिवी पर किसी पात्र में जल भर कर रख देता है, तथा नली के निकट ही लाल मिरच को लगा देता है; तब तोता आता है और उन मिरचों को उत्तम फल समझ कर

उन्हें खाने के लिये उस नली पर जा बैठता है। बस तब कहना ही क्या है, वह उस नली पर ज्योंही बैठता है, त्योंही वह नली वेग से घूम जाती है, उसके घूमते ही वह तोता भयभीत होकर उसे अपने चंगुल से ख़ूब दृढ़ता-पूर्वक पकड़ लेता है, फिर तो उस नली के घूमने के कारण उस तोते का शिर तो नीचे को हो जाता है और पैर ऊपर को हो जाते हैं। अब तो वह यह समझने लगता है कि इस नली के छोड़ देने से मैं मर ही जाऊँगा। इतने में ही उसकी दृष्टि नीचे रखे हुए उस जल से परिपूर्ण पात्र पर पड़ती है और उसमें उसे अपनी छाया (परछाहीं) दीख पड़ती है, उसे देखते ही तोते को भ्रमवश यह प्रतीत होने लगता है कि इस जल में मैं डूबा जा रहा हूँ। अब तो उसकी दशा विलक्षण ही हो जाती है। अजी! वह अपने असली रूप को भूल कर हीं भारी विपत्ति में फँस जाता है, उससे न तो अब नली ही को छोड़ते बनता है; और न उड़ते ही बनता है। वह बेचारा मारे डर के उस समय लगता है अपने पंखों को फड़फड़ाने, तथा छटपटा-छटपटा कर शोर-गुल करने; अन्त में वह बेहोश हो जाता है और बहेलिया आकर उसे पकड़ लेता है।

ऐ अविवेकी जीव ! ठीक यही दशा, तुम्हारी भी है। तुम तो अपने सुख-स्वरूप में निर्द्वंद्व विचरनेवाले थे। वहाँ न तो मोह था। और न शोक ही था; वहाँ तो संतापाग्नि का कुछ चारा ही न चलता था, अविद्या की दाल ही न गलती थी। वहाँ तुम तो स्वमेव अकेले निज प्रकाश से प्रकाशित थे, परन्तु तुमने प्रथम ही स्वयमेव अपने में अविद्या की कल्पना की और तुम अपने को भूल गये। अपने को भूलते ही तुम्हें अन्य बुद्धि-प्रतीति ऐसे ही होने लगी, जैसे मंदधी को अन्धकार में अज्ञान से रस्सी में सर्प का भान होने लगता है। फिर तुमने उस बुद्धि में अपने अविनाशी चैतन्य-स्वरूप के प्रतिविम्ब को देखा और उसी को अपना सच्चा रूप मान लिया। अब तो तुमने बुद्धि के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों को अपने में आरोपित कर लिया और लगे प्रपञ्च को देखने। अजी ! तुमने तो बुद्धि के धर्मों में ऐसा गहरा गोता लगाया कि अपने अक्रिय और असंग रूप को एकदम खो बैठे, जिससे कालरूपी बहेलिये ने तुम्हें पकड़ कर मोह की रस्सी से बाँध लिया और लगा वह तुम्हें चौरासी लक्ष योनियों में नचाने। तुम बन्धन में पड़े-पड़े छटपटाते हो, कराहते हो,

चीखें मारते हो; परन्तु तुम्हें बन्धन से कोई भी मुक्त नहीं करता, सुख नहीं पहुँचाता। कभी-कभी तुम्हें विषयोपभोगरूपी दाना-पानी भी मिल जाता है, परन्तु उससे तुम नितान्त संतुष्ट और पूर्णतया सुखी नहीं होते, होओ भी कहाँ से।

'सो मूरख, सुख-हेतु जो, करत विषय की आस।
यथा तृषित नर ओस-कन, चाटि बुझावै प्यास॥'

अरे! कभी ओस-कण से भी प्यास बुझायी जा सकती है? कभी नहीं। प्यारे! तुम्हारा बन्धन टूटे तो कैसे टूटे? तुम्हारा दुःख दूर हो तो कैसे हो? क्या सत्य हो किसी ने तुम्हें बाँध रखा है? कभी नहीं। तुम तो यह सब अज्ञान-निन्द्रा में ही देख रहे हो। यह सब तुम्हारा मानसिक भ्रम-विलास है, तुम अभी अपना होश सँभालो, अपने को विचारो, अपना ज्ञान प्राप्त करो, तुम्हारा सम्पूर्ण दुःख छूट जायगा, और तुम सुखी हो जाओगे।

ऐ मेरे अविनाशी आत्मन्! ऐ मेरे सच्चे स्वरूप! तनिक सोचो तो सही, राम की बातों पर कुछ ध्यान तो दो, यहाँ तुम्हारे अतिरिक्त और है ही कौन? तुम्हारे अद्वितीय स्वरूप में यह प्रपञ्च आ कहाँ से गया। अरे! यह सब

जगत तुम्हारा ही रूप है, तुम्हारा ही प्रतिविम्ब है, तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं। तुम अपनी ही छाया को देखकर शोक क्यों करते हो? तुम्हारी दशा तो ठीक वैसी ही हो रही है, जैसी उस बालक की होती है, जो अपनी ही छाया को प्रेत समझकर भयभीत हो चिल्लाता और भागता है। शिला में अपने ही रूप को देखकर बाज़ यह जानकर कि यह कोई दूसरा पक्षी है, उसपर बड़े ज़ोरों से टूट पड़ता है और चोंच मारता है, बस, उस पत्थर से टकरा कर उसकी चोंच टूट जाती है, तब तो वह बहुत दुःखी होता है। इसी प्रकार काँच के घर में गया हुआ कुत्ता उसकी दीवार में अपनी ही छाया को कोई दूसरा सच्चा कुत्ता जानकर बड़े ज़ोरों से भूँकना शुरू करता है, जब उसकी आवाज़ उस महल में टकराती है, तब तो बड़ी भारी आवाज़ (प्रतिध्वनि) होने लगती है, उस आवाज़ के सुनते ही बेचारा कुत्ता और भी ज़ोर-ज़ोर से भूकने लगता है, तब तो वहाँ और भी भारी आवाज़ होने लगती है, फिर उस भयंकर शब्द को सुनकर कुत्ता बेचारा डर जाता है और भूँकते हुए इधर-उधर दौड़ने लगता है, तब तो उसे चारों ही ओर से कुत्ते ही कुत्ते

(छाया के) दिखलाई देने लगते हैं, जिससे वह कुत्ता यह समझकर व्याकुल हो जाता है कि ये कुत्ते मुझे अब छोड़ेंगे ही नहीं, बल्कि काट खायँगे, बस वह ख़ूब ज़ोर-ज़ोर से भूँक-भूँककर तथा छटपटा-छटपटाकर गिर पड़ता है और बेहोश होकर मर जाता है। सिंह की भी यही दशा होती है। जब सिंह किसी कुएँ में अपनी परछाँहीं देखता है, तब उसे दूसरा असली सिंह जानकर उस कुएँ में कूद पड़ता है और डूबकर अपनी जान गवाँ देता है।

बाज़ लख्यो निज छाँह शिला जिमि जानि विहंगम चोंच नसायो।
काँच-गृहे लखि रूप निजै, जिमि स्वानहुँ जीवन भूँकि गवाँयो॥
कूप मैं कूदि मर्यो वह सिंह, जो आपुहिं को मन आन बसायो।
'राम' लख्यो जग को निजसे जब भिन्न तबै दुख-जाल फँसायो॥

प्रिय आत्मन्! यदि तुम यह जान जाओ कि जैसे सीपी में की कल्पित चाँदी सीपी से भिन्न नहीं होती, वैसे ही मुझ सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म में का कल्पित जगत मुझसे भिन्न नहीं है, तब तुम्हें कौन बाँधने तथा छुड़ने-वाला रह जायगा? तुम किससे राग या द्वेष करोगे? तुममें मोह और शोक कहाँ रह जायँगे। अजी! तब

तो तुम निखिल द्वन्दों और दुःखों से मुक्त हुए परमानन्द का ही उपभोग करोगे अथवा आनन्द की मूर्त्ति ही बन बैठोगे। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वेदान्त-रहस्य

एक नास्तिक चार्वाक के अनुयायिओं को छोड़कर, प्राय: हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी मज़हबवाले किसी-न-किसी रूप में ईश्वर को मानते ही हैं और सभी का यह कथन है कि ईश्वर से प्रेम करो, उसी को पहचानो, उसी को प्राप्त करो, वही तुम्हें सुख देगा; उसके ही जानने पर तुम्हारे सम्पूर्ण दुःख दूर हो जायँगे, और तुम परमानन्दपद को प्राप्त हो जाओगे"' इत्यादि।

इनमें से एक वेदान्त-सम्प्रदाय* भी है, वह अनादि काल से चला आ रहा है। उसका कथन है कि

---

* यहाँ सम्प्रदाय से मतलब सिद्धान्त से है, क्योंकि वेदान्त अपने को परिच्छिन्न नहीं मानता, बल्कि वह अपने को सम्पूर्ण देश, समस्त समाज, सभी मज़हब तथा हर एक व्यक्ति में व्याप्त मानता है।

परमतत्त्व एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है, अपितु सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। जब तक जीव की भावना में परमात्मा के अतिरिक्त किसी और हो पदार्थ का अस्तित्व बना रहेगा, वह जगत अथवा अपने को ईश्वर से भिन्न समझता रहेगा; तब तक जन्म-मरण के चक्कर से छूट ही न सकेगा, उसके दुःखों का नाश भी न हो सकेगा; इसलिये जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःखों से छूटने और पूर्ण सत्य सुख को पाने के लिये अपने सहित जगत् को ब्रह्मरूप ही जानना होगा; जगत् के हर एक पदार्थ में अपने ही अखण्ड रूप का अनुभव करना होगा; भूत, वर्तमान, भविष्य, तथा इनसे भी परे अपने अविनाशी स्वरूप की ही एक सत्य सत्ता को समझना होगा।

सृष्टि तीन प्रकार की मानी गयी है, एक आरम्भक, दूसरी परिणामी और तीसरी विवर्त्तीय। इनमें से पहला सिद्धान्त 'आरम्भवाद' कहलाता, है जिसे नैयायिक मानते हैं; दूसरे को 'परिणामवाद' कहते हैं, इसपर सांख्यावाले अपना दावा रखते हैं और तीसरा 'विवर्त्तवाद' के नाम से प्रसिद्ध है, इसे वेदान्त ने अपनाया है।

विवर्त्तवादी वेदान्त कहता है कि भाई ! जगत् की सृष्टि शून्य से तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि कहीं भी शून्य, असत् या अभाव से सृष्टि नहीं देखी जाती। क्या आकाश में स्वतः सृष्टि होती है ? आज तक तो किसी ने भी वन्ध्या-पुत्र नहीं देखा। अजी, जहाँ मूल-कारण ही न रहेगा, वहाँ कार्य कैसे होगा ? इसलिये जगत् का कुछ मूलकारण अवश्यमेव होना चाहिये; तो क्या इसका मूलकारण जड़ पदार्थ हो सकता है ? कदापि नहीं; क्योंकि यह बात तो एक बालक भी जानता है कि जड़ पदार्थ किसी चैतन्य के ही बनाने से बनता है। क्या घड़े को कुम्हार नहीं बनाता। जड़ रथ को एक चेतन बढ़ई ही तो बनाता है। इतना ही नहीं, वरन् जड़ का प्रवर्त्तक (प्रेरक) भी चैतन्य ही होता है, जैसे रथ के चलानेवाले सारथी और घोड़े होते हैं। अजी, सृष्टि पर ध्यान देने से तो यही पता चलता है कि यह किसी अलौकिक विचित्र कारीगर की बनाई हुई है। कहिये ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पंच तत्वों को क्या आपने बनाया है ? क्या चाँद, सूर्य, तारे इत्यादि आपके रचे हुए हैं ? कभी नहीं, यह सब काम किसी सर्वज्ञ सामर्थ्य-

शाली के बिना हो ही नहीं सकता। नियत समय पर चन्द्रमा और सूर्य का उदय होना; पल, घड़ी, पहर, वार, मास, अयन, वर्ष आदि के सिलसिले का न बिगड़ना; समय-समय पर ऋतुओं एवं मौसिमों का बदलना; यथा-काल वृक्ष, लता, अन्न, पुष्प आदि में पत्ते, फूल, फलादि-कों का लगना; यहाँ तक कि सृष्टि-प्रलय का भी नियुक्त समय पर ही होना, भला, किसी महान शासक के बिना कैसे हो सकता है। अजी! सचमुच ही इसके लिये एक मात्र जड़ प्रकृति या केवल जड़ परमाणुओं को कारण बतलाना नितांत बालकपन है, अज्ञता है, मूर्खता है। इसके लिये तो अवश्यमेव कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वा-न्तर्यामी एवं चैतन्य नियन्ता ही को होना चाहिये। आप कह सकते हैं कि ऐसा कौन हो सकता है। अजी, ऐसा तो एकमात्र वेदान्तियों का ईश्वर ही हो सकता है। इसपर आप कहेंगे कि वेदान्ती तो ईश्वर (ब्रह्म) को निर्गुण मानते हैं, उनके निर्गुण ईश्वर में ये सब गुण कैसे घट सकते हैं? तो सुनिये, इसी से तो वेदान्ती 'विवर्त्तवाद' को मानते हैं। इस विवर्त्तवाद के अनुसार चैतन्य ईश्वर में सब कुछ कल्पित माना गया है। विवर्त्त का अर्थ ही यह होता

है कि किसी पदार्थ की प्रतीति दूसरे रूप में हो जाने पर भी उसका अभाव न हो, उसके स्वरूप में रंच भी अन्तर न पड़े। जैसे, जब आकाश में नीलता, तम्बू या कराह दिखलाई देता है तब क्या आकाश सचमुच रूपवान अथवा विकारी हो जाता है, या उसकी असङ्गता में अन्तर पड़ जाता है? इस प्रकार वेदान्तियों के ईश्वर में कितने ही गुणों का आरोप कीजिये, उसमें अनेक ब्रह्मांडों की कल्पना कर डालिये, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ने का; वह तो निरवयव, असङ्ग एवं अनन्त ही रहेगा।

कई एक पदार्थों के परस्पर मिलने से सृष्टि होती है, इसे 'आरम्भवाद कहते हैं' और किसी पदार्थ का अपने पहले रूप को छोड़ कर दूसरे रूप में हो जाना ही 'परिणामवाद' का मर्म कहलाता है। अब विचार कीजिये कि वस्तुओं का पारस्परिक मेल अथवा एक रूप से दूसरे रूप में हो जाना, बिना सावयव पदार्थों के कैसे हो सकता है? यह तो रूप तथा अङ्गवाले पदार्थों में ही हो सकता है। क्या निरवयव आकाश का किसी के साथ कभी संयोग हुआ है? अथवा उसमें रूपान्तर हुआ है? फिर ऐसे संयोगवान् तथा परिणामी पदार्थ तो जड़ तथा

विनाशी होते हैं, और जड़ तथा विनाशी वस्तुओं को चेतनता एवं सत्ता देने के लिये किसी चैतन्य और सत्य पदार्थ की ही आवश्यकता पड़ती है, तब परिणामवाद और आरम्भवाद स्वतन्त्ररूप में कैसे चल सकते हैं ? इसी से तो ये मूल-रहित और अधूरे ही रह जाते हैं।

अब जिज्ञासुओं में यह शंका स्वाभाविक रूप में ही उठती होगी कि जब एक ही निरवयव, असंग तथा अपरिच्छिन्न परमात्मा है, तो उसमें से जगत आ कहाँ गया ? या वह जगत्-रूप से क्यों दिखलायी देने लगा ? अच्छा इसे आप लोग ध्यान देकर सुनें। भाई ! यह विषय आध्यात्मिक है, बहुत गूढ़ है, अति गहन है; बिना शुद्ध हृदय के, बिना चित्तैकाग्रता के, यह समझ में नहीं आता। यही कारण है कि बहिर्मुख वृत्तिवाले विषयी द्वैतवादी, विशेषकर पाश्चात्य लोग इससे लाखों कोस दूर रहते हैं, आध्यात्मिक चर्चा के सुनते ही उनका माथा ठनकने लगता है। अजी ! इसके रहस्य के समझ में न आने से ही वे इसका रसास्वादन नहीं कर सकते, और इसको शुष्कवाद, कोरा ज्ञान, नीरस या कल्पित कह डालते हैं। वे बेचारे करें तो क्या करें ? उनके सिद्धान्त और इस सिद्धान्त में

बहुत अन्तर है। कहाँ तो यहाँ विषय-त्याग और कहाँ वहाँ विलासिता; कहाँ तो यहाँ अन्तर्मुखी वृत्ति, कहाँ वहाँ वाह्यवृत्ति, यहाँ तो देहाभिमान को छोड़ना है, और वहाँ देहाभिमान को ही बढ़ाना है, यहाँ तो सुख को आत्मा में ढूँढ़ना है और वहाँ संसार में; यहाँ जीते जी मुक्त होना है, किन्तु वहाँ मरकर मोक्ष पाना है। अजी! यहाँ तो मुक्ति किसी से उधार नहीं ली जाती, किसी भी लोक में, किसी का मुख नहीं ताकना पड़ता, वरन् यहाँ स्वतः सर्वस्वतन्त्र सम्राट् होना है, वहाँ उनका सिद्धान्त इससे बिल्कुल विपरीत है। अरे! मैं कहाँ बहक गया, यह सब क्या बकने लगा। यहाँ तो अन्य प्रसंग ही होने लगा, पहला विषय तो छूटने लगा। अच्छा, पाठकवृन्द! अब आप पूर्व विषय पर ध्यान दें।

ऐ मेरे प्रिय श्रोतागण! अनन्त अविनाशी निराकार चैतन्यदेव के आश्रय में अनादिकाल से एक शक्ति रहती है, उस शक्ति को माया, अज्ञान अथवा अविद्या कहते हैं। उस शक्ति के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है? कैसी है? क्यों है? कब से है—इत्यादि। इसलिये वह अचिन्त्य नाम से पुकारी

जाती है। चूँकि ब्रह्म सर्वत्र है, अतएव उसकी शक्ति भी हरएक जगह भरी पड़ी है। वह तो जगत् की हरएक वस्तु में पाई जाती है। हम देखते हैं कि मिट्टी में घड़े के बनने की शक्ति, वृक्षों, वनस्पतियों तथा लताओं इत्यादि में अँकुरने, फूलने और फलने की शक्ति एवं आग में जलाने की शक्ति सन्निहित रहती है। तब क्या ये शक्तियाँ इन पदार्थों से भिन्न हैं? जी नहीं, क्योंकि पदार्थ के आश्रय को छोड़कर किसी भी शक्ति को हमने आज तक स्वतन्त्र और पृथक् नहीं देखा। तो क्या शक्ति पदार्थ से अभिन्न है? अर्थात् क्या पदार्थ को ही हम शक्ति कह सकते हैं? जी नहीं, यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि आप ही न कहिये, आप में तो बहुत कुछ कार्य करने की शक्ति है न? जी हाँ, तब आपको पुरुष कहा जाय, या शक्ति? इस पर आप यही कह उठेंगे कि अजी! मैं तो पुरुष हूँ; तब कहिये कि शक्ति पुरुष से भिन्न कहाँ रह गई?

अब मैं एक और दृष्टान्त अग्नि का देता हूँ; इससे आपको अचिन्त्य शक्ति का विषय ठीक-ठीक समझ में आ जायगा। जबतक अग्नि किसी पदार्थ को जलाती

नहीं है, तब तक तो उसकी जलानेवाली शक्ति का पता ही नहीं रहता कि वह कहाँ है ? तब तक तो वह अग्नि में मिल-जुलकर अग्नि-रूप में ही रहती है, परन्तु जब उस अग्नि से किसी पदार्थ का संयोग हो जाता है और वह वस्तु जलने लगती है, तब तो यह मालूम ही हो जाता है कि इस अग्नि में जलाने की शक्ति है, परन्तु जब कोई उस अग्नि की शक्ति को मणि-मंत्रादि से मार देता है, तब तो वह जला भी नहीं सकती। तो क्या शक्ति के अभाव से उस अग्नि का भी अभाव हो जाता है ? नहीं, नहीं, वह तो ज्यों-की-त्यों ही लहलहाती हुई दिखाई देती रहती है, तब हम शक्ति को अग्नि से भिन्न क्यों न समझें ? यदि वह शक्ति अग्नि-रूप ही होती तो उसके अभाव से अग्नि का भी अभाव हो जाता। इससे क्या वह शक्ति अभाव-रूपा है ? जी नहीं, वह अभाव-रूपा कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि यदि उसका अभाव हो गया होता, तो मणि-मंत्रादि के प्रतिबन्धों के दूर होते ही वह फिर क्योंकर जलाने लगी ? अतएव वह अभाव-रूप नहीं हो सकती।

मेरे प्रिय आत्मन्! आप लोगों के अन्तःकरणों में

कुतूहल मचा होगा, और हलचली मची होगी। अब तो यह शंका सहज ही में उठती होगी कि जब वह शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं, और अभिन्न भी नहीं, तथा जब वह न तो भावरूपा है और न अभावरूपा, तब वह है कैसी ? इसके उत्तर-रूप में हम तो पहले ही कह चुके हैं कि वह शक्ति अनिर्वाच्य है। जब हम उसे याद करते हैं, या उसे ढूँढ़ने लगते हैं, तभी वह प्रतीत होने लगती है। उस में ख़ूबी यह है कि उसे हम जिस रूप में ढूंढ़ते हैं, वह उसी रूप में हमें मिल जाती है। मान लीजिये कि इस समय हम अपनी चित्त-वृत्ति को सब ओर से हटाकर एक पुस्तक की ही ओर लगाये हुए हैं; अर्थात् उस पुस्तक को ही बड़े ध्यान से देख रहे हैं, तो बताइये, इस समय हमारे लिये उस पुस्तक के सिवा और संसार रह ही कहाँ गया है ? जब हम अपने को मनुष्य के रूप में देखना चाहते हैं तब मनुष्य-रूप में पाते हैं। जब हम स्वर्ग की खोज में चलते हैं, तब वह शक्ति हमारे लिये किसी-न-किसी दिन स्वर्ग के ही रूप में आ मिलती है। आप थोड़ी देर के लिये अपने चित्त में शक्ति (माया), जीव, जगत् या किसी भी चीज़ की कल्पना

मत उठने दीजिये, तो आप देखेंगे कि अब आपके लिये कुछ भी नहीं रह गया, बल्कि एकदम प्रलय हो गया। क्या अब सचमुच कुछ नहीं है? आप कहेंगे कि "हाँ, अब तो कल्पना के अभाव से वस्तुतः कुछ भी नहीं रह गया। हम कहते हैं कि यह समझना आपकी बड़ी भारी भूल है। अब भी एक तत्त्व ऐसा शेष रह गया है, जो कल्पनातीत है। अजी, सारे कल्पित पदार्थ मन की कल्पना से ही बने थे, कल्पना के शान्त होते ही वे भी वैसे ही शान्त हो गये, जैसे वायु के बन्द होते ही जल-तरंग शान्त हो जाते हैं; जैसे वाणी के विराम लेते ही वक्तृता का पता नहीं चलता, अथवा जैसे पुरुष के जागते ही स्वप्न के पदार्थ विलीन हो जाते हैं। परन्तु जो वस्तु कल्पना से परे है, उसका अभाव कब होने का है? वह तो त्रिकालाबाध्य है, अचल है, अविनाशी है, पूर्ण है, शान्त है, वह आपका आत्मा है, सच्चा स्वरूप है। यदि आप पूछिये कि यह कैसे? तो सुनिये। आपने ज्यों ही सम्पूर्ण कल्पनाओं को रोक दिया था, त्योंही यह मालूम हुआ था कि 'अब कुछ भी नहीं है'। तब बताइये कि इस 'कुछ नहीं है' का ज्ञान किसने किया?

यह किसने जाना कि 'अब कुछ नहीं है'। वह आत्म तत्त्व, जिसका वर्णन अभी हुआ है, वही आप हैं। यदि वहाँ पर आप न रहे होते तो सब के अभाव का ज्ञान कौन करता। देखिये न! सर्वाभाव के हो जाने पर भी आपका अभाव नहीं हुआ, इसीलिये तो आपका स्वरूप ही सत्य ठहरा तथा उस समय समस्त कल्पनाओं के अभाव के हो जाने से सूर्य-चन्द्रादि के प्रकाश भी न रह गये थे। वहाँ तो ये चर्म-नेत्र भी न थे, बल्कि आपने स्वयं अपने स्वरूप के प्रकाश में ही पदार्थों के अभाव को देखा और जाना था, अतः आप स्वयं प्रकाश—चैतन्यस्वरूप—हैं, और उस समय किसी भी पदार्थ के न रहने के कारण आपको सुख-दुःख देने वाला कोई भी दूसरा न था। अपितु उस समय वहाँ आप ही समस्त दुःखों से रहित हो आनन्द-रूप से विराजमान थे;अतएव आपका ही वह स्वरूप सच्चिदानन्द है। सचमुच कल्पनातीतता की अवस्था बड़ी ही निराली है। वह तो अलौकिक है, वही आत्यन्तिक सुख अथवा मुक्तावस्था है। उसकी तो प्राप्ति अनेक जन्मों के दृढ़ वैराग्य तथा अभ्यास से ही होती है।

अब आप पूछेंगे कि कल्पना के शान्त होते ही जब

सारे पदार्थों का अभाव हो गया था तब उस अवस्था में मेरी वह कल्पना-शक्ति कहाँ चली गई थी, जिसने यह प्रपञ्च रचा था। अजी! उस शक्ति ने तो उस समय में आप में ही लय होकर आप से अभिन्नता प्राप्त कर ली थी।

अचिन्त्य शक्ति का जो कार्य होता है, वह तो व्यक्त कहलाता है, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय हो जाता है; और वह शक्ति इन्द्रियातीत होने से स्वयं अव्यक्त है तथा इन दोनों—अव्यक्त और व्यक्त—का अधिष्ठान-रूप जो ब्रह्म है, वही आधार कहलाता है। यह नियम संसार के हरएक पदार्थ में पाया जाता है। एक घड़े को ही ले लीजिये। मिट्टी का कार्य जो घड़ा है, वह तो व्यक्त है और मिट्टी में घड़े के बनने की जो शक्ति है, वह अव्यक्त—छिपी हुई है। एवं मिट्टी के सहित मिट्टी उपहित—मिट्टी में का व्याप्त—चेतन आधार है।

प्रिय जिज्ञासु-वृन्द! पूर्वोक्त प्रकरणानुसार आपके अनन्त, अखंड, निरवच्छिन्न एवं निर्विकार स्वरूप में ही यह अनिर्वाच्य शक्ति अखिल प्रपञ्च का भान करा डालती है। यह सुन कर शायद आप फिर भी घबड़ाने लगे होंगे, कि अरे! मुझमें प्रपञ्च हो और मेरी निर्विकारिता भी

बनी रहें, यह कैसा विरोधपूर्ण भाषण है ! यह कैसी आश्चर्यमयी वार्ता है ! यह तो बिलकुल असम्भव सा ही प्रतीत होता है । मेरे प्रिय आत्मन् ! आप घबड़ाइये नहीं, चित को सावधान करके सुनिये । यह विषय आश्चर्यरूप या असम्भव नहीं है । अजी ! आप को विकारवान नहीं बनाया जा रहा है, आप इस बात पर तनिक ध्यान तो दें । आपसे कहा क्या गया, यही न, कि 'वह अचिन्त्य शक्ति आपके ही स्वरूप में अखिल प्रपञ्च का भान करा देती है, तो क्या प्रपञ्च का भान होने से आप विकारी हो गए ? जी नहीं, कदापि नहीं । क्या आपने यह नहीं देखा कि जब दिन में दोपहर—मध्याह्न-के समय रेतीली ज़मीन पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब वहाँ नद-नदी की प्रतीति होने लगती है, तो क्या वहाँ सचमुच ही जल रहता है । क्या वहाँ की पृथ्वी गीली हो जाती है, कभी नहीं । अजी ! कहीं सूर्य की किरणों में जल होता है ? वहाँ आग सी उष्णता होती है । वहाँ नदी का दिखाई देना तो धूप से चौंधियाये हुए दूषित नेत्रों का ही प्रभाव मात्र है । गुञ्जा-पुञ्ज में भी दूर से अग्नि की कल्पना हो जाया करती है, किन्तु इससे वह गुञ्जे की ढेरी जल नहीं

जाती। बस इसी को तो विवर्तवाद कहते हैं, जो पहले भी बताया जा चुका है। विवर्तवाद में यही तो विशेषता है कि कल्पित पदार्थ से अधिष्ठान का कुछ भी नहीं बिगड़ता। उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं पड़ता। इस रीति से आपके अधिष्ठान में सब कुछ हुआ करे, आपको चिंता कैसी, घबड़ाहट कैसी, आप में तनिक भी विकार नहीं आने का। आप अपने-आप में मस्त रहें, आप होने और न होने से परे हैं, बनने-बिगड़ने से निराले हैं, आप मुक्त हैं, शाश्वत हैं, शुद्ध हैं, बुद्ध हैं। अब समझ गये न वेदान्त का रहस्य? पाया न उत्तम सिद्धांत? बस, अब हो गया कहना, कहना है :—ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!

जीव का बन्ध-मोक्ष

जब ईश्वर पूर्व कल्प के जीवों के कर्मानुसार अपनी माया-वृत्ति के द्वारा नाम-रूपात्मक जगत् को रचकर तैयार कर देता है, तब उस जगत् की वस्तुओं में जीव सत्य तथा आनन्द की बुद्धि करने लगता है। कूटस्थ चेतन में

पहले-पहल बुद्धि की कल्पना होती है, फिर उस बुद्धि में कूटस्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रतिबिम्ब के पड़ते ही उसमें प्राण-शक्ति प्रकट हो जाती है; बस, यही जीव कहलाने लगता है। यही कारण है कि जिनमें अन्तः-करण नहीं रहता, ऐसे मिट्टी, पाषाणादि पदार्थों में चेतन तो रहता है, परन्तु उनमें जीव नहीं रहता।

पूर्वोक्त प्रतिबिम्बित बुद्धि और प्राणादि से कूटस्थ इस तरह ढक जाता है, जैसे जल बर्फ़ से या सूत्र कपड़े से अथवा जैसे अध्यस्त रजत से सीपी छिप जाती है। इस प्रकार ढका हुआ कूटस्थ आत्मा अपने को वैसे ही भूल जाता है, जैसे कोई ब्राह्मण मद्य पीकर भ्रान्त होकर अपने को शूद्र मानने लगता है, अथवा जैसे कोई चक्रवर्ती राजा अपने को स्वप्न में भिक्षा माँगते हुए-देखने लगता है। फिर तो कहना ही क्या है, वह कूटस्थ मोह तथा भ्रम से ग्रसित होकर अपने को दुखी और अल्पज्ञ जीव मानने लगता है, तथा सांसारिक पदार्थों में सुख को टटोलने लगता है; फिर उन पदार्थों में अनुकूल तथा प्रतिकूल बुद्धि करके राग-द्वेष की सृष्टि करने लगता है। जब किसी पदार्थ को अनुकूल मानकर वह उसकी प्राप्ति के निमित्त

प्रयत्न करता है और उसमें जब कोई बाधा डाल देता है, तब तो उसके हृदय में क्रोधाग्नि भड़क उठती है, वह जल-भुनकर राख हो जाता है। आह! उस क्रोधाग्नि से उसकी छाती कैसी जलती होगी? बेचारा बड़ा कष्ट सहता होगा। किन्तु, यदि उसे उसकी इच्छित वस्तु मिल जाती है, तब तो वह प्रसन्न हो जाता है। पाठक-वृन्द! आप जानते हैं कि वह क्यों प्रसन्न हो जाता है? उस वस्तु से थोड़ी देर के लिये उसे क्यों सुख मिल जाता है? क्या उस वस्तु में आनन्द रखा रहता है? क्या उसे उस चीज़ से आनन्द मिलता है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। सच बात तो यह है कि वह जिस पदार्थ का इच्छुक था, जिसके लिये वह प्रयत्न में लगा था, उस प्रिय वस्तु के पाते ही उसकी चित्त-वृत्ति थोड़ देर के लिये अन्तर्मुख हो गयी, एकाग्र हो गयी या यों कहिये कि उस काल में उसकी चित्त-वृत्ति बाहरी पदार्थों को बिलकुल भूल गयी, यहाँ तक कि उसे अपने स्थूल शरीर का भी भान न रह गया; बस इस प्रकार की अन्तर्मुखी वृत्ति में ही उस पुरुष के आनन्द-स्वरूप कूटस्थ का प्रतिबिम्ब—आभास—पड़ा, उस आनन्दाभास के

पड़ते ही उसकी चित्त-वृत्ति सुखाकार हो गयी, तब वह जीव सुख का अनुभव या उपभोग करने लगा।

अज्ञान तथा भ्रम के कीचड़ में फँसे हुये बेचारे जीव को यह ख़बर ही कहाँ कि यह सुख मेरे ही स्वरूप से आ रहा है। वह जानता है कि यह आनन्द मुझे इस चीज़ से ही मिल रहा है। उस समय उसकी दशा ठीक वैसी ही हो जाती है, जैसी उस मृग की होती है; जो अपनी ही नाभि की कस्तूरी के गंध को पा-पाकर जङ्गल की घासों में उसकी खोज करता फिरता है।

दो०—कस्तूरी मृग-नाभि महँ, ढूँढत विपिन तमाम।
तिमि खोजत जग अज्ञ सुख, पावत नहिं विश्राम॥

जब अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है अर्थात् अन्तःकरण से बाहर निकल कर किसी दूसरे पदार्थ को ढूँढने लगती है, तब वह आभ्यन्तरिक सुख हाथ से निकल जाता है और जीव दुःखी हो जाता है।

नींद से उठा हुआ पुरुष भी थोड़ी देर तक सुख का अनुभव कर ही लेता है, यह क्यों? इसीलिये कि वह सुषुप्ति से उठा है; उस सुषुप्ति में सम्पूर्ण प्रपञ्च के लय हो जाने से अत्यन्त अन्तर्मुखी अविद्या की वृत्तियों

के द्वारा उसने निजानन्द-रस का पान किया था, वही सुख-संस्कार अब भी (सोकर उठने पर) बना है। क्या यह सुषुप्ति सुख पदार्थ-जनित है? कभी नहीं, वहाँ सांसारिक पदार्थों की गंध भी नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि जिस समय किसी को कोई चिंता नहीं रहती और कुछ काम भी नहीं रहता है, उस समय वह सुखपूर्वक बैठा हुआ प्रसन्नता से सुशोभित होता है वह सुख या वह प्रसन्नता क्या उसे किसी पदार्थ से है? जी नहीं, उस समय तो तृष्णा तथा चिंता के अभाव के हो जाने से चित्त-वृत्ति अन्तर्मुख हो कर आत्मानन्द का भोग कर रही है। इसीलिये भाइयो! ईश्वर-रचित संसार या सांसारिक पदार्थ तुम्हें सुख नहीं दे सकते, सुख तो अपने आप में ही है, तुम्हारे अन्तस्थल में सुख का सागर उमड़ रहा है, आनन्द लहरा रहा है, परन्तु वह कामना की यवनिका (काई) से ढका हुआ है, अज्ञान की ओट में छिपा हुआ है, अतएव अपनी सारी कामनाओं को अंतः-करण से निकाल कर फेंक दो, उन्हें हटा दो, तृष्णाओं को दूर कर दो, आवश्यकताओं को फूंक दो और अपने को पहचान लो तब देखो तुम सुखमय हो जाते हो या नहीं।

रे जीव! तेरी ही सृष्टि तुझे दुःख भी दे रही है, अर्थात् जब तेरी चित्त-वृत्ति किसी वस्तु को प्रतिकूल मान कर उससे द्वेष कर लेती है, तब तो वह वस्तु तेरे चित्त में शत्रुवत् निवास करने लगती है; वह तो नहीं, अपितु तू ही अपने मन में एक वैसी ही चीज़ रच लेता है, और उससे रात-दिन जला करता है। जब वह प्रतिकूल पदार्थ कभी बाहर मिल जाता है, तब तो तू अपने हृदय की रची हुई वस्तु को नेत्रों के द्वारा उस पर छोड़ता है अर्थात् उस बाहर के पदार्थ में प्रतिकूलता या द्वेष की दृष्टि करता है। परिणाम में उस पदार्थ से संतापित होता है, दुःखी होता है, तुझे जलन पैदा होती है। प्यारे! तनिक विचारो तो सही, वह ईश्वर की बनायी हुई चीज़ क्या सत्य ही तुझे मारती है? या वह तुझसे द्वेष करने आती है? रंचक ध्यान तो दो, उसका दोष ही क्या है। क्या उस ईश्वर या ईश्वर-रचित पदार्थ ने तुझसे यह कहा है कि तू मुझसे द्वेष कर? यदि नहीं करता, तो तुझे बाँध रखूँगा या मारूँगा? अथवा कोई और ही दण्ड दूँगा। भाई! जब यही बात नहीं है तो नाहक अपने-आप क्यों दुःख का काम करता है। आप ही अपने ही लिये क्यों

बन्धन तैयार करता है। जब से तू संसार में सुख-दुःख मानने लगा, राग-द्वेष की सृष्टि करने लगा, तभी से तू अपने आप को भूलकर शान्ति, आराम तथा विश्राम को खो बैठा। जैसे—

स०—दौरि मर्‌यो मृग आतप में
जल के भ्रम सों, तऊ वारि न पायो।
तारन-बिम्ब मराल लख्यो
भ्रम-मोतिन के तन-पङ्ख फँसायो॥
धूम में वारिद के भ्रम सों
तकि चातक ज्यों निज नैन गवाँयो।
आनँद मानि लियो जग में,
तिमि 'राम' कहूँ बिसराम न पायो॥

मेरे आत्मन्! तुम संसार को देखकर दुःखी मत हो। इसने न तो तुम्हारा कुछ बिगाड़ा है और न बिगाड़ने का ही है। यदि इसके त्याग से, अभाव से या द्वेष से अथवा अदर्शन से तेरा कल्याण हो जाता, तो तू आज तक दुःखी ही न रहता, तेरा दुःख-दारिद्य कभी सात समुद्र टापू-पार चला गया होता; क्योंकि ठिकाना नहीं कि इस

संसार का कितने बार प्रलय हो चुका है। प्रलय है क्या ? जगत् का अभाव या अदर्शन ही तो है ? और तो जाने दो, इस संसार के अभाव का अनुभव तो तू नित्यप्रति सुषुप्ति में करता ही है। तो क्या तू सर्वदा के लिए क्लेश से मुक्त हो जाता है ? या तेरा सच्चा कल्याण हो जाता है ? यदि संसार के अदर्शन से ही मुक्ति मिल जाती, तब तो वृक्ष, पहाड़ादि भी मुक्त हो जाते। इसलिये भाई, यह संसार तेरा शत्रु कदापि नहीं हो सकता। यह न तो तुझे बन्धन में ही डालता है, और न मुक्ति से ही रोकता है; बल्कि इससे तो तुझे सहायता मिलेगी, मोक्ष-मार्ग में बड़ी भारी मदद मिलेगी। यदि पूछो कि यह कैसे, तो सुनो। इस संसार को देखकर इसके निर्माता का पता लगाया जा सकता है, इसके अधिष्ठान-आधार की खोज की जा सकती है। अजी ! वेद, शास्त्र तथा आचार्य भी तो संसार के ही अन्तर्गत हैं ? इनसे ही तो तुझे सदुपदेश मिलेगा, आत्म-प्राप्ति का साधन (मार्ग) प्राप्त होगा; और उसके द्वारा तेरे हृदय में आत्म-साक्षात्कार होगा, अपने अखण्ड स्वरूप की झाँकी मिलेगी, ब्रह्म-तत्व तेरी वृत्ति में कूट-कूट कर भर

जायगा; तू शोक-सागर से पार हो जायगा, तेरी दीनता मिट जायेगी, और अविद्या-रजनी का अन्त हो जायगा। अजी! जब संसार के मिथ्यातत्व का बोध भली भाँति हो जायगा, तब तो संसार के प्रति तेरे राग-द्वेष रह ही न जायँगे, तब तो संसार को देख-देखकर तू उसी प्रकार हँसेगा, जिस प्रकार अपनी मारी हुई शत्रु-सेना को देख-कर कोई वीर पुरुष हँसता है।

क०—जान नर जान अब अपनो स्वरूप जान,
सत चित, सुख, शुद्ध, मुक्त तेरो रूप है।
वासना को त्याग गुरु-शास्त्र-अनुरागु जेहि,
सहज स्वरूप-ज्ञान होवै जो अनूप है॥
कर्मऽरु उपासना सों चित्त, शुद्ध, शान्त करि,
ओम-ओम जाप कर, छूटै भव-कूप है।
काहू सों न बोल कछु, निज में मगन रहु,
तू तो शिवरूप, 'राम', भूपन को भूप है॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अचिन्त्य-शक्ति से सृष्टि

जैसे मकड़ी—जन्तुविशेष—के अन्दर उसका जाला (ताना-बाना) छिपा रहता है तथा जिस प्रकार एक नन्हें-से बीज में अपने सम्पूर्ण डाली और पत्तों के सहित गगन-चुम्बी विशाल वट-वृक्ष रहता हुआ भी दिखाई नहीं देता अथवा जिस तरह मानव-शरीर को चीरकर भी देखने से नख, केशादि का पता नहीं चलता तथापि मकरी अपने मुख से ही तन्तुओं को निकालकर ताना-बाना फैला देती है, एक छोटे-से दाने (बीज) से ही महाकाय वटवृक्ष निकल आता है और मनुष्य-शरीर से ही नख, केशादि निकलते रहते हैं। उसी तरह एक ही अद्वितीय ईश्वर में माया प्रथम तो अभिन्न-रूप से रहती है, फिर जब पूर्वकल्प के प्राणियों के कर्म परिपक्व हो जाते हैं, तब उनके भोग के निमित्त संसार के रचने के लिये वही व्यक्त—प्रकट—हो जाती है। वह माया मूलतः त्रिगुण-रूप से ही है अथवा उसका स्वरूप ही त्रिगुणात्मक है, इसीलिये उस माया के सभी कार्य तीनों गुणों से भरे पाये जाते हैं। अजी! किसी भी अव्यक्त कारण का पता उसके कार्य

से ही तो चलता है। शरीर के अवयवों में छिपी हुई इन्द्रियों का पता उनके कार्यों से ही तो मिलता है? यदि कर्ण-गोलकों से शब्द का ज्ञान न होता, या नेत्रों के गड्ढों से दिखाई न देता अथवा चमड़े से स्पर्श न जाना जाता, वैसे ही जीभ से रस का और नाक के छिद्र से गंध का भान न होता, तो क्या पता था कि इन स्थानों में क्रमशः श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, जीभ और नाक, ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वैसेही यदि परब्रह्म में सृष्टि की इच्छावृत्ति न उठती, तो शक्ति (माया) का पता ही कैसे लगता। यह कौन जानता कि वह आकाश में वायु की तरह ब्रह्म में लुक-छिपकर विश्राम ले रही है। उस आदि शक्ति की पहली क्रिया 'मैं एक होता हुआ भी बहुत हो जाऊँ'* ऐसी इच्छा-वृत्ति ही मानी जाती है। आप जानते हैं कि यह वृत्ति किसकी है? यह वृत्ति परब्रह्म की है, सद्रूप की है। भला, सत्य की इच्छा असत्य कैसे हो सकती है? उस सत्य के समुद्र में ज्योंही इच्छा का, संकल्प का तूफान उठा कि लगीं सृष्टि की लहरें उठने। अब तो कहना ही क्या है? लगे नामरूपात्मक झाग, फेन, बुदबुदे आदि

*"एकोऽहं बहुस्याम:"

उठने; या यों कहिये कि वह अमोघ संकल्पवृत्ति ही लगी नाना प्रकार के आकारों एवं रूपों को धारण करने। आप जानते ही हैं कि वह वृत्ति त्रिगुणात्मिका माया की परिणाम थी, अतः वह वृत्ति और उसके वृत्ति के कार्य भी त्रिगुणरूप में ही हुए।

जैसे आपकी शक्ति—बल या सामर्थ्य—किसी कार्य के करने में किसी एक ही अंग से तो प्रकट होती है। देखने या पढ़ने के समय क्या आप सम्पूर्ण शरीर से काम लेते हैं? क्या उस समय नेत्रों से अथवा मुख के ही द्वारा नहीं देखते या पढ़ते? उसी प्रकार वह शक्ति भी परमात्मा के किसी एक अंग या देश से ही प्रकट होकर सृष्टि का प्रसार करती है। अब इसीसे पाठकगण समझ जायँगे कि यह माया-रचित जगत ब्रह्म के कितने देश में है अथवा इस सृष्टि से आच्छादित सोपाधिक ब्रह्म कितने अंश में है। अजी! जबकि ब्रह्म के किसी एक ही अंश की यह शक्ति है, तब उस शक्ति का बनाया हुआ जगत कितने अंश में हो सकता है, वह तो स्वल्पातिस्वल्प देश में ही होगा।

आप कहेंगे कि अजी! आप जैसे वेदान्तियों का ईश्वर

तो निरवयव, अनन्त एवं अखण्ड है, तब फिर यह क्या बकने लगे। उस ब्रह्म में कहाँ से अंग, देशादि दिखलाने लगे ? आप तो अपने ही भाषण से अपने सिद्धान्त को खण्डित करने लगे, इसीको तो 'वदतो व्याघातः' दोष कहा गया है। भला, जब वक्ता के ही वचनों में विरोध पड़ेगा, तब श्रोता बेचारे क्या करेंगे ? कैसे समझेंगे। इसका उत्तर है कि हम वेदान्तियों की दृष्टि में तो सृष्टि है ही नहीं, अपितु एक ही अद्वितीय चैतन्य अपने आपमें स्थिति है। परन्तु आप जिज्ञासुओं को इस सृष्टि का अस्तित्व भासता है, इसलिये आप सोचते होंगे कि यह सृष्टि कहाँ पर हुई, कैसे हुई, इसको किसने बनाया, इत्यादि-इत्यादि। अतएव श्रीमान् लोगों के विचार—सिद्धान्त—को लेते हुए यहाँ वक्तृता की जाती है। जैसे लड़के पहले जब मिट्टी या धूल के घरौने बहुत अच्छे प्रकार बना लेते हैं, तब फिर उन्हें बिगाड़ते हैं अथवा जैसे बनाया हुआ मकान ही गिराया जाता है, तैयार वृक्ष को ही काटा जाता है; वैसे ही पहले उस संसार का अच्छे प्रकार से निरूपण किया जाता है, जिसको आप लोग सत्य तथा सुखरूप मानते हैं। जब उसका अध्यारोप भली भाँति कर लिया

जायगा तभी तो पुनः युक्तियों से उसका अपवाद किया जायगा। इस प्रकार करने से आप लोगों को सुगमता से बोध हो जायगा। बोध के होने के अनन्तर ही तो आप लोगों को भी निजात्म-रूप ब्रह्म ठीक हम तत्त्वदर्शियों के ही समान निरवयव, अखण्ड, निष्क्रिय एवं अद्वैत भासेगा। पुनः इस प्रकरण में तो ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति की महिमा के वर्णन की ही प्रधानता रहेगी।

अब फिर पूर्व विषय पर ध्यान दीजिये। उस त्रिगुणात्मिका माया की वृत्तियाँ भी तीन गुणों से युक्त होती हैं। माया की तमोगुणी वृत्ति से आकाशादि पंच महाभूत उत्पन्न होते और उनसे चराचर जगत के स्थूल शरीर बन जाते हैं और जब वे शरीर कुछ कार्य नहीं कर सकते हैं बल्कि योंही जड़ीभूत होकर पड़े रहते हैं, तब ईश्वर यह संकल्प करता है कि 'मैं इन शरीरों के द्वारा श्रवण करूं, स्पर्श, करूँ देखूँ, रस को जानूं और गंध का ज्ञान करूँ। बस इस संकल्प के ठते ही उस माया-वृत्ति के सतोगुण वाले भाग से श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नाक एवं अंतःकरण नामक ज्ञानेन्द्रियाँ होकर स्थूल शरीर में प्रवेश कर गयी। पुनः ईश्वर ने इच्छा की कि 'मैं

विना कर्मेन्द्रियों के लौकिक कर्मों को कैसे करूँगा? अतः कर्मेन्द्रियाँ भी होनी चाहिए, ऐसी रजोगुणी वृत्ति के उठते ही वाक, पाणि, पैर, लिंग और गुदा तथा पाँच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान) भी उत्पन्न हो गये। इसके बाद यह शरीर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों, तथा प्राणादि का समुदाय, चेतना-शून्य जड़-रूप हो गया अर्थात् किसी भी काम के करने या किसी भी पदार्थ के ज्ञान के करने में वैसे ही विल्कुल-असमर्थ हो गया, जैसे ड्राइवर के बिना मोटर या रेल नहीं चलती। तब तो वह परमात्मा उसमें जीव-रूप से प्रवेश करता है और उसके प्रवेश करते ही उन इन्द्रियों, प्राणों और अंतःकरणों में हलचल मच गयी, वे जागृत हो गये। अजी! वे तो ऐसे चैतन्य हो उठे, मानो कोई मृतक जी उठा हो। इतना ही नहीं, अपितु रस, रक्त, मांस, मेद, त्वचा नाड़ी आदि शरीर के सभी हिस्से चालू हो गये। जैसे बिजली के जलते ही सारे शहर में प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही तमाम शरीर में चैतन्यता भर गयी है। वे चैतन्य होते ही अपने—अपने काम में यथेष्टरूप से नियुक्त हो गये, जैसे मालिक के लिए नौकर काम किया करते हैं।

वैसे ही वे सब जीवात्मा सुख के निमित्त अनेकों व्यापार करने लगे।

पूर्व विवेचन के अनुसार उस असग ब्रह्म के किसी एक कोने में भगवती शक्ति प्रकट होकर अपनी त्रिगुणात्मिका वृत्ति के द्वारा अपने एक अंग में आकाश, आकाश के किसी एक अंश में वायु, वायु के थोड़े ही हिस्से में अग्नि, अग्नि के किसी एक भाग में जल और जल के किसी एक कोने में पृथिवी को रचकर जड़-चेतनमय अखिल ब्रह्माण्ड को बना डालती है, अथवा यों समझिये कि अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज और स्थावर के रूप में स्वयं हो जाती है। ये चार खानें तीन स्थानों में रहती हैं, कुछ तो जल में, कुछ थल में और कुछ आकाश में।

प्रिय जिज्ञासुवृन्द! पूर्व जो कहा गया कि 'शरीर में ईश्वर प्रवेश कर गया, इसपर शङ्का हो सकती है कि अजी! असंग, निरवच्छिन्न तथा निरवयव पदार्थ में निकलना-पैठना कैसा? सो ठीक है', यद्यपि गति साकार वस्तु में ही होती है, तथापि इस विषय को इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे निरवयव एवं व्यापक

आकाश में गति के न होने पर भी उसे घड़े में देखकर कहा जाता है कि 'इस घड़े में आकाश ने प्रवेश किया है'। उत्पन्न तो होता है घड़ा ही, लेकिन कहा जाता है कि 'घटाकाश उत्पन्न होगया', वैसे ही घड़े के नाश होने से लोग कहते हैं कि 'घटाकाश का नाश होगया'। अब विचार कीजिये कि क्या सचमुच आकाश प्रवेश करता है ? अथवा उसकी उत्पत्ति या उसका नाश होता है ? जी नहीं, ये सब क्रियायें केवल घड़े की ही होती हैं, आकाश में तो घटरूप उपाधि से ही इस सबका प्रयोग किया जाता है। वैसे ही मेरे प्रिय आत्मन् ! इस जड़ शरीर में चैतन्य आत्मा के पाने से यह अनुमान किया जाता है कि उसने इसमें प्रवेश किया होगा और वैसे ही शरीर रूप उपाधि के बन जाने से कहा जाता है कि आत्मा का जन्म होगया तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर कहा जाता है कि आत्मा मर गया। फिर आत्मा को शरीर में प्रविष्ट कहने से यही दिखलाना है कि वह शरीर से भिन्न तथा चैतन्य है। जैसे जल-तरंग के भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर एक जल ही-जल भरा रहता है, वैसे ही इस शरीर के ब्रह्माण्ड के चारोंओर, सब ओर से एक असंग आत्मा—परमात्मा—ही व्याप्त है, वही ओत-प्रोत है।

आओ ! हम सब मिलकर उस परमेश्वर के गुण का गान करें, जिसकी अचिन्त्य शक्ति ने जगत्‌रूपी अघटित घटना घटायी है।

गीत—जगदीश ईश मेरे, तेरी शरण में आये।
दीजे हमें सहारा, भव-रोग हैं सताए ॥टेक॥
इन चार खानि में ही, दुनिया सकल बनायी।
सबमें रहा समायी, मूरख न मर्म पाये ॥१॥
रवि-चन्द्र और तारे, गिरि-वृक्ष-सिन्धु-धारे।
फल-पुष्प-अन्न न्यारे, तूने सकल बनाये ॥२॥
ऋतुयें सदा बदलतीं, फूलों की पंक्ति खिलतीं।
तरु-पत्तियाँ भी हिलतीं, तेरे हुकुम चलाये ॥३॥
गुण-गान करके हारे, मुनि वेद-शास्त्र सारे।
यह 'राम' भी पुकारे, कोई न अन्त पाये ॥४॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ईश्वर अन्यायकारी क्यों ?

लोग शंका किया करते हैं कि सृष्टिकर्ता ईश्वर ऐसा अन्याय क्यों किया करता है ? अर्थात् वह किसीको तो राजा बना देता है और किसीको भजा। किसीको देव-लोक में भेजता है, तो किसीको मनुष्य-लोक में। किसी व्यक्ति को धन-धान्य से परिपूर्ण कर देता है, तो किसीसे भीख मँगवाता है। किसीको ब्रह्म-लोक में भेजकर वहाँ की मनचाही वस्तुओं का भोग कराता है, तो किसीको यमपुरी में भेजकर या पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि का तन देकर नरक के महाकष्ट का अनुभव कराता है। कोई मारे .खुशी के फूले नहीं समाते, तो कोई हाय-हाय, करते दिन काटते हैं। कोई खाने-पहिनने के बिना मर रहे हैं, तो कोई वस्त्राभूषणों से सजधजकर डकारें मारते फिरते हैं. इत्यादि—इत्यादि। क्या यह अन्याय नहीं है ? विषमता नहीं है ? यह तो भारी क्रूरता है, बड़ी निर्दयता है।

कुछ लोग कहते हैं कि भाई ! ईश्वर स्वतन्त्र है, उसके ऊपर कोई नहीं है, वह जो कुछ करे, सो सब ठीक ही है।

कुछ लोगों का तो यह ख्याल है कि परमात्मा ऊँच-नीच योनियों में जन्म तथा दुःख-सुखादि प्राणियों के कर्मानुसार ही दिया करता है, अतएव वह निर्दोषी है। कुछ व्यक्तियों का यह कथन है कि ईश्वर अपने भक्तों को तो सुख देता है और जो उसका भजन नहीं करते, उनसे विमुख रहता है, अतः वे दुःख पाते हैं, इत्यादि। इस प्रकार लोग अनेक प्रकार से समाधान किया करते हैं, परन्तु इन बातों से मन को संतोष नहीं मिलता; चित्त सावधान नहीं होता; बुद्धि में और अधिक भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अजी! क्या स्वतन्त्रता का यही अर्थ है कि जो मन में आवे वही कर डाले? क्या क्रूर होना ही स्वतन्त्रता है? जहाँ पाप-पुण्य का न्याय नहीं है, ऐसी स्वतन्त्रता में आग लग जाय। जब वही प्रेरक है, वही कर्मों का करानेवाला है, तब किसीसे बुरा कर्म कराता ही क्यों है? उसके तो सभी जीव प्रजा हैं। सब पुत्र ही तो हैं? फिर जो भजन करे, उसकी टहल-सेवा करे, उसे तो वह सुख दे और जो न करे, उसे दुःख। ऐसा स्वार्थ, ऐसा पक्षपात। अजी! यह तो प्राकृतिक मनुष्यों का-सा व्यवहार प्रतीत होता है, इत्यादि बातें सामने आती हैं।

प्रिय वाचकवृन्द ! पूर्वोक्त अनेक शंकाओं एवं तर्कनाओं के कारण चित्त और भी डाँवाडोल हो जाता है, जिससे प्रासंगिक समस्या और भी जटिल हो जाती है, परन्तु इसपर वेदान्त बहुत ही यथार्थ एवं स्पष्ट उत्तर देता है। उसका कथन है कि भाई ! जब जीव और जगत् ईश्वर से भिन्न हैं ही नहीं, तब अन्याय कैसा ? ऐसे समय पर किसके लिये कौन अन्याय या न्याय का करनेवाला है ? किसको सुख-दुःख कौन देता है ? तथा पक्षपाती कौन है। अजी ! यह सब तो अज्ञान से, केवल भ्रम से प्रतीत हो रहा है। क्या आपने किसी देवालय में अथवा किसी चित्र में नहीं देखा कि पत्थर की ही देवी और पत्थर का ही उसका वाहन (सिंह) रहता है तथा उसके अस्त्र-शस्त्रादि भी पत्थर के ही रहते हैं ? क्या वहाँ महिषासुर भी पत्थर का नहीं रहता है ? तो क्या उसे देखकर कोई ऐसा कह सकता है कि—'हाय ! इस भगवती ने तो इस असुर की जान ले ली, यह बड़ी निर्दयी है' अथवा चित्र-लिखित राजा को देखकर कोई यह समझ लेता है कि—'यह सचमुच बादशाह ही है ?' या उसको देखकर

चोर डर जाते हैं ? या याचक मुँहमाँगी वस्तु पा जाते हैं ? जी नहीं, सच बात तो यह है कि उस बादशाह का सिंहासन, उसके वस्त्राभूषण, अस्त्र-शस्त्र, दरबारी इत्यादि नाना प्रकार के रङ्गों के होते हैं, और तो क्या, वहाँ उसका शरीर भी एकमात्र रङ्ग का ही रहता है। यदि उस चित्र में ऐसा दिखायी दे कि वह बादशाह किसी अपराधी को दण्ड दे रहा है अथवा किसी पुरुषार्थी को पुरस्कार दे रहा है, तो क्या ये सब बातें झूठी न मानी जायँगी। तो अब यह बताइये कि वह बादशाह न्यायी या अन्यायी कैसा ? उसमें विषमता कैसी ? इसी प्रकार ईश्वर, जीव और जगत्, ये परमार्थ से, वास्तव में, कुछ नहीं हैं। इन्हें तो अचिन्त्य शक्तिवाला माया-रूपी चित्रकार ने अज्ञान या अविद्या के रंग से परमात्मा-रूपी काग़ज़ पर रच डाला है, इसलिये कर्मों के तथा दुःखादि के साधन इत्यादि जो कुछ प्रतीत हो रहे हैं, वे सब अज्ञान या अविद्याजनामात्र हैं, इन्द्रिय-विकार हैं। अथवा एक परब्रह्म ही नाना रूप में दिखायी दे रहा है, तब न्याय तथा अन्याय कैसा ? दयालुता और निर्दयता कैसी। समता तथा विषमता का तब तो लेश भी नहीं रह जाता।

अजी ! यह सब नानात्व तो वैसे ही नहीं है, जैसे मंद अंधकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भान होता हुआ भी वास्तव में वहाँ सच्चा सर्प नहीं रहता। अथवा ख़ूब कड़ाके की धूप में जब हमारी दृष्टि किसी रेतीली ज़मीन पर पड़ती है, तब वहाँ एक बड़ी भारी सरिता-सी बह निकलती है। अहा हा !!! क्या ही आनन्द की लहरें उठ रही हैं, देखिये न ! उसमें तो झाग, बुदबुदे, फेन आदि भी दिखाई देते हैं। लो ! अब तो उसमें उछलती हुई मछलियाँ भी प्रतीत होने लगीं। अरे ! वहाँ तो मुख फाड़े हुए मकर भी हैं। क्या ये सचमुच कच्छप ही हैं ? वहाँ तो टँगा हुआ पाल भी मालूम हो रहा है, नौका आ रही है क्या ? अच्छा, चलो तो, तनिक निकट चलकर देखें, वहाँ जाने से बड़ा आनन्द होगा, ख़ूब स्नान-पानादि करके तृप्त होंगे। लो ! अब तो धीरे-धीरे हम सब वहाँ पर पहुँच गये, जहाँ पर विशाल नदी दिखाई देती थी। अरे ! देखो न, यहाँ तो कुछ भी नहीं है, पानी का कहीं निशान भी नहीं है, कहीं कीचड़ का लेश भी नहीं है। अजी ! वे मछलियाँ, मकर, नौकादि क्या होगये ? उन्हें कौन

उड़ा ले गया ? क्या वह सब इन्द्रजाल था, या किसी प्रेत की करामात थी ? अथवा हम वह सब तमाशा नींद में देख रहे थे ? नहीं, नहीं, यहाँ न तो कोई इन्द्रजाली था, न प्रेत ही, और न हम नींद में ही थे; बल्कि प्रखर धूप के सामने हमारी दृष्टि में चकचौंधी आ गई थी, अतः किरण-माली भगवान सूर्य की रश्मियों में यह दृश्य दिखलाई देता था। इसलिए भाई ! इसमें किसी का भी दोष नहीं, अपितु हम लोगों की दृष्टि का ही दोष है।

प्रिय मेरे आत्मन् ! इस प्रपञ्च का एक ब्रह्म ही अधिष्ठान—आश्रय—है। इस ब्रह्मरूपी रेतीली पृथ्वी पर उसीकी किरणरूपी विचित्र माया के बल से हमारे हृदय और नेत्र चौंधियाये हुये हैं, इसी कारण हम संसार-सरिता की बाढ़ देख रहे हैं। जब हम साधन-सम्पन्न होकर ब्रह्म-निष्ठ गुरु की कृपा और उसके उपदेशानुसार इसका भलीभाँति विचार कर लेंगे, तब यह प्रपञ्च एक-दम मिथ्या हो जायगा; तब यह वैसा न भासेगा, जैसा पहले भासता था। इसके मिथ्यापन का ज्ञान होते ही एक वही सच्चिदानन्द बच रहेगा, और वह हमारे लिये नित्य तथा अपरोक्ष हो जायगा। वह हमें निज रूप से

प्रतीत होने लगेगा। आओ, हम सब मिलकर एक साथ ऊँचे स्वर से एक गीत गावें! इससे हमारे हृदय में जागृति पैदा होगी, हम में अपने रूप की प्राप्ति के लिये उत्साह बढ़ेगा; विवेक, वैरागादि का सम्पादन होगा।

गीत—नर मूढ़ क्यों भुलाया, दिल में करो विचारा।
चिरकाल का नहीं है, सुत-बाँधवा-सहारा ॥ टेक ॥
घृत डालने से जोती, कबहूँ न शान्त होती।
तृष्णा विशेष बढ़ती, भोगादि है पसारा ॥ १ ॥
तेरा शरीर झड़ता, जैसे कपूर उड़ता।
किमि मोह-सिन्धु पड़ता, जल्दी गहो किनारा ॥ २ ॥
आनन्द जाहि माना, उसका न मर्म जाना।
मृग नीर के समाना, सब झूठ ही पसारा ॥ ३ ॥
जो विश्व का अधारा, अरु 'राम' रूप प्यारा।
उसको करो विचारा, दुख दूर हो तुम्हारा ॥ ४ ॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वृत्ति-वन्दना

वृत्ति भगवती ! नमस्कार। भला, तेरी अपार महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ? तूने देव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी पर अधिकार जमाया है ; कोई भी तुझसे विपरीत नहीं चल सकता। बेचारे सूर्य, चन्द्रादि तेरे ही कारण आकाश में भ्रमण किया करते हैं; वायु भी तेरे ही शासन में रहकर थिरकती और विश्राम लेती है; नदियाँ भयभीत हो चक्कर काटतीं, गिरतीं, लड़खड़ातीं, और उछलतीं-कूदतीं हुई समुद्र के पास तेरा ही संदेशा पहुँचाने को जा रही हैं; पृथ्वी भी तेरी ही वजह से असह्य भार को लिये हुए स्थित है; यही क्यों, बेचारे त्रिदेव भी तो तेरे ही हुक्म से उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करने का स्वांग भरा करते हैं; तेरे ही कारण निर्विकार ईश्वर भी विकारवान् हो गया है। कहाँ तक कहूँ, तू नित्य नयी सृष्टि किया करती है, क्षण-क्षण में अनेकों ब्रह्माण्ड बनाती और बिगाड़ती रहती है; तेरा धारा-प्रवाह रुकता ही नहीं। यह पता नहीं कि ये अठखेलियाँ तू कब से खेल रही है और कब तक खेलती रहेगी ?

तूने किसी से सागर में पुल बँधवाया तो किसी से

नख पर पर्वत उठवाया; किसी के गले में सर्प लपेटा तो किसी को नाग पर शयन ही कराया; किसी के शिर पर पृथ्वी रखायी तो किसी से दाँतों पर ही; किसी को गूदे के बदले शाक के छिलके खिलाये तो किसी को थोड़े से तन्दुलों में ही तृप्ति दी; किसी को रुलाते-रुलाते मारा तो किसी को हँसाते-हँसाते ही जान ले ली। हे वृत्ते! तूने कहीं समरसागर में रुधिर की धार बहायी, कहीं राज्य दिलाया, किसी को स्वर्ग भेजा और किसी को नरक। तेरे तूफान को कोई रोक नहीं सकता, तेरी प्रलयाग्नि के बुझाने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ। भला, तेरी लीला कौन समझ सकता है। शेष, शारदा, ऋषि, मुनि इत्यादि ने तेरा निर्णय करते-करते थक कर 'न इति' का आश्रय लिया, और तझे अनिर्वचनीय ही कह डाला।

हे देवि! क्या तू ऐसा ही खेल खेला करेगी? क्या विश्राम न लेगी? अब राम पर कृपा कर, कृपा कर, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से दूर कर, उसे अब अधिक न सता। क्योंकि अपने तमोगुण की प्रधानता से आवरण तू ही है और सतोगुण की प्रधानता से आवरण का नाशक भी तू ही है, इसलिए तू अब उसे अपना सात्विक स्वरूप प्रदान कर।

राम के इस अनादि-काल के आवरण को दूर कर, जिससे राम अपने रूप की झाँकी अहर्निशि पाता रहे। अरे! अहंदर्शन कहाँ से आ गया? यह भी तो एक परदा ही है और झाँकी लेने में भी द्वैत का परदा ही प्रतीत होता है, अतः अब राम यही चाहता है कि राम, राम ही रह जाय, अनुभव-रूप ही हो जाय, बोध की मूर्ति ही बन जाय, अथवा बनने और बनाने से परे हो जाय।

मैं समझता हूँ कि जब तू राम को इस अनिर्वचनीय दशा में लाना चाहेगी या लायेगी तब उससे पहले तुझे अपने को ही खो देना पड़ेगा। इस अपने नाश के भय से कदाचित् तू ऐसा न कर सकेगी, परन्तु स्मरण रखना, राम तुझे विश्वास दिलाता है, तू डरना मत; इसमें तेरी कुछ भी क्षति न होगी; इस प्रकार तेरा नाश होना तो अमर ही हो जाना है। जब राम के तुच्छ अहंकार को हटाकर तू उसे अविनाशी बना देगी, तब तू भी अपने को नाश-कर अमर हो जायगी। बस, राम की और तेरी दशा एक ही हो जायगी। तेरी भी खटपट छूट जायगी, और मेरी भी। आओ हम दोनों अपने असली स्वरूप को प्राप्त हों।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वृत्ति क्या है ?

प्रिय जिज्ञासुओ ! अब आप लोगों को मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि 'वृत्ति है क्या ?' अर्थात् वृत्ति किसे कहते हैं, और उसका कैसा स्वरूप है, तथा वह क्या-क्या लीला करती है। अजी ! वृत्ति का वर्णन तो वृत्ति की ही सहायता से हो सकता है, अतः पहले मैं प्रार्थना करके उस वृत्ति देवी को प्रसन्न तो कर लूँ ।

हे देवि ! हे वृत्ते ! तू ऐसी दया कर, जिससे मैं तेरा वर्णन कर सकूँ, क्योंकि तेरा वर्णन तेरे ही द्वारा होगा। यदि तू अपने सात्विक स्वरूप का सम्पादन इस हृदय में न करेगी, तो भला मैं तेरा कैसे कुछ वर्णन कर सकूँगा ? इसलिये अब तू मेरे लिये अपने शुद्ध स्वरूप का प्रदान कर। देख, तू इसमें संकोच मत कर, मैं तेरा वर्णन कर तुझे सीमित नहीं करना चाहता। तेरी असीम महिमा का वर्णन असीम ही होगा; परन्तु हाँ, मेरे इस वर्णन से तुझे अपने अनादि कालीन नकली रूप को तो अवश्य ही खो देना पड़ेगा। लेकिन साथ-ही-साथ तुझे अमरता भी मिल जायगी,

तुझे अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति भी हो जायगी। तू निर्विकल्प, अचल, असीम एवं आनन्द-पद पर स्थित हो जायगी। भला, आनन्द कौन नहीं चाहता? आनन्द के ही तो सब उपासक हैं? अतएव वृत्ति-रूप में प्रवर्तित हे मेरे आत्मन्! तू आप ही अपने ऊपर कृपा कर।

प्रिय वाचकवृन्द! अन्तःकरण अथवा अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते हैं, अथवा जब अन्तःकरण या अज्ञान एक रूप से दूसरे रूप में हो जाता है तब उसे हम वृत्ति कहने लगते हैं। अन्तःकरण के मुख्य परिणाम चार हैं। पहला बुद्धि, दूसरा चित्त, तीसरा मन और चौथा अहङ्कार। जब अन्तःकरण में किसी विषय के निश्चय करने की वृत्ति उठती है अर्थात् जब अंतःकरण किसी प्रश्न को लेकर उसे हल करने लगता है, तब उसे 'बुद्धि-वृत्ति' कहते हैं। जब वही अन्तःकरण किसी पूर्व अनुभूत विषय का चिन्तन या स्मरण करने लगता है, तब 'चित्त-वृत्ति' कहलाती है। इसी प्रकार जब अन्तःकरण में किसी विषय के बारे में बार-बार 'क्यों, कैसे, ऐसा या वैसा' इत्यादि संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं तब वह 'मनोवृत्ति' कही जाती है, और जब वही अंतः-

करण शरीरादि के अभिमान से ग्रसित हो जाता है, तब उसका नाम 'अहंकार-वृत्ति' हो जाता है। इस प्रकार अन्तःकरण की मुख्य वृत्तियाँ तो केवल चार ही हैं, परन्तु बुद्धि को निश्चय करने के लिये अनेक विषय मिल जाते हैं, वैसे ही चित्त भी अनेक विषयों का चिन्तन करता रहता है; मन भी अनेक पदार्थों का संकल्प-विकल्प करता रहता है, तथा अहंकार भी अनेक वस्तुओं में होता रहता है। इस रीति से अन्तःकरण की वृत्तियाँ अनन्त हो जाया करती हैं। जब कोई पदार्थ किसी प्रतिबन्ध या आवरण के कारण ठीक-ठीक नहीं प्रतीत होता और उसमें संशय (संदेह) अथवा विपर्यय—विपरीत ज्ञान—हो जाता है, तब वह अज्ञानात्मक भ्रमात्मिक-वृत्ति कहलाती है। स्मृति-ज्ञान को किसी ने तो अविद्या की वृत्ति से उत्पन्न माना है और किसी ने अन्तःकरण की वृत्ति से; विशेषतया आचार्यों की तो सम्मति इसे अविद्या की ही वृत्ति के मानने में हैं।

अंतःकरण पंचभूतों के सतोगुण से बना है, अतः वह स्वच्छ है। अंतःकरण पर पड़ा हुआ आत्मा का प्रतिविम्ब जीव कहलाता है। प्रतिविम्ब होने के कारण

जीव मिथ्या है। वह कूटस्थ आत्मा की सत्यता से अपने को सत्य मान बैठता है और उसी आत्मा की सत्यता से उसे अन्तःकरण भी सत्य ही प्रतीत होता है, तथा उस अंतःकरण में प्रतिविम्बित हुए, लोहे में अग्नि के सदृश मिले हुए, उस मिथ्यारूप को वह अपना सत्य स्वरूप ही मान लेता है। चूँकि जीव ज्ञान-स्वरूप आत्मा का प्रतिविम्ब है, अतः उसमें जानने की शक्ति होती है। अजी! स्वच्छ अंतःकरण की वृत्तियाँ भी स्वच्छ ही होती हैं, अतएव उन वृत्तियों पर पड़ा हुआ चैतन्यात्मा का आभास भी जीव ही कहलाता है, यहाँ भी जीव वृत्तियों के धर्मों को अपना ही मान लेता है। आप जानते ही हैं कि प्रतिविम्ब की दशा ठीक वैसी ही होती है, जैसी उस पदार्थ की होती है, जिसपर वह प्रतिविम्ब पड़ा रहता है। क्या कभी आपको ऐसा शीशा नहीं मिला, जिसमें आपका मुख बहुत ही लम्बा दिखाई देता है? कभी तो आपने ऐसा भी शीशा पाया होगा, जिसमें आपका चेहरा वर्तुलाकार प्रतीत हो। कभी-कभी तो ऐसे भी शीशे मिल जाया करते हैं, जिनमें मुख की आकृति में बहुत कुछ ऐसी विकृति आ जाती है; जिसे देखते ही वैसे ही भय

होता या घृणा पैदा होती है, जैसे किसी को रुद्रगण के मिल जाने से। अजी! कभी-कभी तो ऐसा भी दर्पण मिल जाता है, जिसमें आपका मुख असली मुख से भी अधिक सुन्दर दिखाई देता है। अब आप विचार करें कि क्या उपर्युक्त गुण आपके असली मुख के गुण होते हैं? क्या वस्तुतः आपके मुख वैसे ही हो जाया करते हैं? जी नहीं, कदापि नहीं। ये सब गुण उन शीशों के रहते हैं। उनसे आपमें तो रंच भी विकार नहीं आता, कुछ भी अंतर नहीं पड़ता, आप तो अपने असली रूप से ज्यों-के-त्योंही उपस्थित रहते हैं।

प्रिय पाठको! उपर्युक्त रीति से जैसी-जैसी वृत्ति होती जाती है, उसका प्रतिबिम्बित होनेवाला जीव भी वैसे-ही-वैसे होता जाता है। जब अंतःकरण की वृत्ति दुःखाकार होती है अर्थात् जब वह दुःख से नाता जोड़ लेती है, तब जीव भी दुःख-रूप ही हो जाता है। यों ही उसके सुखाकार होने से जीव भी सुखमय हो जाता है। जीव अपना स्वांग ठीक उसी विषय के अनुकूल बनाने लगता है, जैसा विषय वृत्ति ग्रहण करने लगती है। बस, इसी नियम से जीव की सुगति तथा दुर्गति एक वृत्ति के ही अधीन हो जाती

है। वृत्ति जिस विषय का अभ्यास विशेषरूप से करती रहती है, उसी विषय का संस्कार हृदय में दृढ़ होता जाता है और मरणपर्यन्त बना रहकर शरीर के छूटने के समय में भी उसे उसी की स्मृति बनी रहती है, फिर शरीरान्त होने पर इस जीव के सामने वही विषय आ उपस्थित होता है। इस वार्ता को वैसी ही समझनी चाहिये, जैसी स्वप्न की होती है। अजी! हम लोग दिन में जिस विषय या वस्तु का मनन दृढ़तापूर्वक करते हैं, वही विषय या वस्तु स्वप्न में आ मिलता है। शरीर-त्याग के बाद और नवदेह के पुनः न मिल जाने से पूर्व की अवस्था स्वप्नावस्था ही तो है। इसी बीच की अवस्था में जीव स्वर्ग-नरक का स्वप्न देखा करता है। इतना ही नहीं, अपितु शरीर धारण करना, पुनः अपने कर्म-फल का भोग करना तथा नाना प्रकार के कर्मों का करना, फिर शरीरान्त हो जाना, यह सब स्वप्न ही है। यह सब स्वप्न-स्वप्नान्तर अनादि काल से चला आ रहा है। जीव के शरीर में जब सात्विकी वृत्ति की प्रधानता रहती है, तब तो शरीर के छोड़ने के बाद वह स्वर्ग का स्वप्न देखता है, रजोगुणी वृत्ति की प्रधानता से मृत्यु-लोक

में अपने को मनुष्य-रूप में पाता है और तमोगुणी वृत्ति से अपने को पशु, पत्ती, कीट, पतंगादि के रूप में देखता है। इस विषय को स्पष्ट रूप से यों समझना चाहिये।

मान लीजिये कि एक बढ़ई है, वह एक अच्छी सन्दूक बना रहा है। वह दिनभर बनाता रहा, परन्तु सन्दूक तैयार न हो पायी, इतने में सूर्यास्त हो गया, और रात हो गयी, तब बढ़ई खा-पीकर सो रहा। क्या आप कह सकते हैं कि वह जब सवेरे सोकर उठेगा तो फिर कौन-सा काम करेगा। अजी! वह तो फिर उसी सन्दूक के बनाने में लग जायगा, जिसको उसने अधूरा छोड़ दिया था। यदि दूसरे दिन भी वह सन्दूक तैयार न हो पाये और पुनः रात हो जाये, तो तीसरे दिन भी वह उसी काम में अवश्य लग जायगा। इसी तरह जब तक वह सन्दूक पूर्णतया तैयार न हो जायगी, तब तक बराबर वह प्रतिदिन उसी के बनाने में लगा रहेगा; कारण यह है कि उसकी चित्त-वृत्ति तो उस सन्दूक के ही बनाने में लगी है। वह चाहता है कि मैं अच्छी सन्दूक बना लूँ; इसके बनाने से मुझे अच्छा मूल्य मिलेगा।

ठीक यही दशा इस जीव की भी है, यह जिस पदार्थ

में आसक्त हो जाता है तथा इसकी मनोवृत्ति जिस वस्तु के लिये लालायित हो जाती है, उसी के लिये वह आजीवन प्रयत्न में लगा रहता है। जब वह मनचाही चीज़ उसे जीते-जी नहीं मिलती, तब अन्तःकरण में वह उसी की वासना लिये हुए शरीर को छोड़ देता है। अब तो उसके जीवन-सूर्य का अस्त हो गया और मृत्यु अँधेरी रात आ गई, अब तो वह किसी पूर्वार्जित कर्म के फल-स्वरूप स्वर्ग या नरक का ही स्वप्न देखेगा। पुनः जब उसके पुनर्जन्म का सूर्योदय होगा, तब फिर वह उसी कर्म का आरम्भ कर देगा, जिसको वह अधूरा छोड़ चुका था। यदि वह उसको उस शरीर से भी पूरा न कर पायेगा, तो पुनः आगे के शरीर से उसी प्रयत्न में लग जायगा। तात्पर्य यह है कि उसे जबतक वह वस्तु न मिल जायगी, तबतक उत्तरोत्तर जन्मों में वह बराबर तदर्थ पुरुषार्थ करता जायगा। फलतः किसी-न-किसी जन्म में वह उस चीज़ को प्राप्त ही कर लेगा। जिस दिन उसे अपनी इच्छित वस्तु मिल जायगी, उसी दिन वह अपना प्रयत्न भी स्थगित कर देगा, परन्तु यदि फिर किसी अन्य पदार्थ की कामना उठ गई, तब तो फिर वह उसके लिये पुरुषार्थ में

लग जायगा और उसको भी एक-न-एक दिन पा ही जायगा।

प्रिय तत्त्व-जिज्ञासुओ! इस प्रकार यह जीव अपनी वृत्ति के अनुसार आवागमन में फँसा रहता है। न तो उसकी कामना थकती है न वृत्ति ही शान्त होती है। अतएव आपको यह याद रखना होगा कि जब आप ऐसे पदार्थ के इच्छुक होंगे, ऐसी वस्तु के लिये यत्न में लगेंगे, जिसकी प्राप्ति मनुष्य-शरीर से ही हो सकेगी, अर्थात् उसका साधन नर-तन से ही हो सकेगा, तब तो आप शरीर के छूटने के बाद पुनः मानव-शरीर पायेंगे। आप कह सकते हैं, कि वह वस्तु या वह तत्व क्या है? वह है ईश्वर, आत्मा, अथवा अपना निज रूप। जब आप ऐसे पदार्थ की कामना करेंगे, ऐसी वस्तु में लट्टू होंगे, जिसकी पूर्ति, जिसका उपभोग, पशु, पक्षी आदि नीच योनियों में भी हो सकता है, तब ऐ प्यारे आत्मन्! आप देव-दुर्लभ मानव-शरीर न पा सकेंगे, आपको यह भवसागर की दीर्घ नौका कदापि न मिलेगी; तब तो आप बार-बार नीच योनियों में ही जन्मते और मरते रहेंगे। इसलिये ऐ मेरे अविनाशी स्वरूप श्रोतागण! आप अपनी अमरता

पर ध्यान दें, घट-घटवासी सुख-स्वरूप भगवान की कामना करें, अपने हृदय के विषय-विष को निकालकर ब्रह्मानन्दामृत का पान करें। फिर ऐसा समय नहीं मिलने का। ऐसे अवसर को खो देना बड़ी ही भारी भूल है, नितान्त मूर्खता है।

भाई! यह चित्त-वृत्ति जिधर ही जाती है, उधर ही एक नयी सृष्टि रच डालती है। जब कोई कारुणिक पुरुष किसी को दुःख की दशा में देखता है, तब वहाँ उसकी वह करुणा-वृत्ति ही उससे दानादि के द्वारा उपकार करा देती है। जब काम की वृत्ति होती है, तब पुरुष को स्त्री-प्रसंग में लगा देती है। क्रोध की वृत्ति तो उससे बड़ा ही अनर्थ करा डालती है। ओह! वह वृत्ति तो पहले उसके हृदय को जलाती है, फिर उसे हिंसादि बड़े-बड़े कुकर्मों में प्रवृत्त कराती है। जब लोभ-मूलक वृत्ति होती है, तब तो इस जीव से चोरी, जुआदि अति जघन्य कर्म करा डालती है। इस प्रकार की ये काम, क्रोध, लोभादि की नीच वृत्तियाँ जीव के लिये शत्रु हो जाती हैं, उसके जीवन को ये दुःख के कीचड़ में फँसा डालती हैं, उसके माथे पर कलंक की टीका लगाकर उसे घृणास्पद बना

डालती हैं। अजी! इन वृत्तियों वाला तो सर्वदा शोकसागर में ही डूबा रहता है तथा संशय, भ्रमादि उसके पिण्ड के। छोड़ते ही नहीं। उसे न तो कभी शान्ति ही मिलती है और न कभी विश्राम ही।

जब यही वृत्ति शम, दम, विवेक, विचार, संतोष, क्षमा, मैत्री, करुणा, मुदिता, शील, दया, सत्य आदि के रूप में हो जाती है, तब वह इस जीव के लिए परम हितैषिणी बन जाती है। तब तो यह जीव निर्भय हो जाता है, किसी भी जीव को दुःख नहीं पहुँचाता, प्राणियों से घृणा नहीं करता, दीनों की यथाशक्ति सहायता करता है तथा अनाथों को अपनाता है। उसपर लोग श्रद्धा-विश्वास रखने लगते हैं, उसको बड़ा सुख होता है। उसका यश चारों ओर फैल जाता है, उसके लिए स्वर्ग-मार्ग खुल जाता है तथा बेचारी ऋद्धियां-सिद्धियां उसकी आज्ञा की भूखी रहती हैं। अजी! इन वृत्तियोंवाला पुरुष तो यज्ञ करता है, दान देता है, अतिथि-सत्कार करता है; गुरु, ब्राह्मण तथा संतों को साक्षात् परमेश्वर की मूर्ति ही मानता है। इन दैवी वृत्तियोंवाले को यदि आजही वसुधा का राज्य मिल जाय,

तो भी उसे कुछ हर्ष नहीं होता, तथा यदि वह आज ही द्रारिद्रय-दुःख से संतप्त होकर दर-दर भीख माँगने लगे, तो उसे कुछ चिंता और विषाद भी नहीं होता।

जब यही वृत्ति वैराग्य के रूप में परिणत हो जाती है, तब तो जीव की दशा विलक्षण ही हो जाती है। वैराग्यवृत्ति वाला पुरुष राज्य नहीं चाहता, उसके लिये तो स्वर्ग भी तुच्छ है। ब्रह्मलोक का ऐश्वर्य तो उसे मानो काटने दौड़ता है, जन-समुदाय तो उसके लिये कंटक-विपिन ही बन जाता है। वैराग्यवृत्ति का अविर्भाव होते ही प्रथम के मित्र भी शत्रु से प्रतीत होने लगते हैं। सांसारिक विषय हलाहल बन जाते हैं। यहाँ तक कि ऐसा वैराग्यवान् व्यक्ति अपने शरीर को भी कुछ नहीं समझता, उसकी ममता तो शरीर से बिलकुल ही हट जाती है। वह तो इस शरीर के छोड़ने के लिये प्रत्येक समय तैयार रहता है।

प्रिय पाठक-वृन्द सोचते होंगे कि अरे! यह क्यों? इस पुरुष को क्या हो गया? इसको ऐसी दशा क्यों होगयी? इस वैराग्यवृत्ति में क्या खूबी है? अजी! इस वृत्ति ने तो अद्भुत लीला कर दी। ओह! इससे तो बेचारे

जीव की समस्त अभिलाषाओं पर पानी ही फिर गया, उसके सारे मनसूबे ही चकनाचूर होगये। उसकी दशा तो बिल्कुल ही पलट गयी। अजी ? आप पूछ सकते हैं कि उसकी वृत्ति ने किसके लिये वैराग्य धारण कर लिया ? यह बेचारा जीव किस सुख के लिये पागल होकर दर-दर भटकने लगा ? वह कौन-सी वस्तु है, जिसके लिये इसने दिन-रात एक कर दिया है ? यह बेचारा जाड़े में ठिठुर रहा है, धूप में जल रहा है। इसे रात को नींद नहीं आती; कभी तो चलते-ही-चलते रात समाप्त कर देता है और कभी बैठे ही बैठें यह किस तत्व की खोज में है ? अच्छा सुनिये, यह दीवाना क्या अलापता है ?

स०—तजि मान-गुमान सदा चित सों,
हरि-नाम भजौ अति जो सुखकारी।
सिर काल बली नित नाचत है,
नहिं सूझ परै तोंहि का कुविचारी॥
हिरनाकुस, रावन, कंस बली,
घननाद भये, न बचे बलधारी।
सब धूरि मिलै, धन-धाम-धरा,
हरिनामहिं 'राम' है-सत्य विचारी॥१॥

× × ×

मन मूढ रे! मान ले बात कही,
कलि में हरि-नाम सजीवन-मूरी।
तजि नाम भजैं विषया नर जे,
निज हाथ गरे पै चलावत छूरी॥
मृग के सम तू भटकै जग मैं,
तजि नाम भरो जेहि मैं सुख भूरी।
सुनु रे हतभाग! सुधा तजि क्यों,
यह 'राम' सप्रेम चबात है हूरी॥२॥

लो! इसके गाने ने तो भंडा-फोड़ कर दिया। इसके मन की बात बतला दी; आपको तो कुछ कहना ही नहीं पड़ा। अजी! इसकी हार्दिक इच्छा, इसके दिल का सच्चा अरमान है, 'अमिय-रस पीना, संजीवन-मूरि का सेवन करना, अमर होना, सुख-स्वरूप का हो जाना।' क्या आप बतला सकते हैं कि इस अल्हड़ दिवाने का यह अरमान क्यों कर पूरा होगा? नहीं, नहीं, यह आपको बतलाने की कोई ज़रूरत नहीं है। जिसे क्षुधा लगती है, वह अन्न ख़ुद ढूँढ़ लेता है, प्यासे को पानी की याद नहीं दिलाई जाती, क्या धूप से मारे हुए पथिक के लिए छाया दिखलानी पड़ती है? हरगिज़ नहीं। वैसे ही वैराग्याग्नि

से संतप्त इस पागल ने संतों तथा सच्छात्रों के द्वारा विश्राम का मार्ग ख़ुद ढूँढ़ निकाला है, वह मार्ग है 'हरिनाम।' इसने 'हरिनाम' का आश्रय लिया है, विषय-सर्प से डसा हुआ इसने अपने लिये 'हरिनाम' को ही संजीवन बूटी समझ रक्खी है, यह अविद्या-मृत्यु से मरा हुआ अब 'हरिनाम' की सुधा पीना चाहता है। देखिये न, यह तो एक 'हरिनाम' को छोड़कर दुनिया की सारी न्यामतों को मृगतृष्णा का ही पानी बतलाता है। विषय-समूह को विष का प्याला समझता है। इसके लिये वे छूरी के समान निरस दिखाई देते हैं, क्योंकि इसने सांसारिक भोगों की असलियत को अच्छी प्रकार समझ लिया है। यह संसार-सागर में डूबते-डूबते थक गया है, चौरासी लक्ष योनियों में लुढ़कते-लुढ़कते उकता गया है। इसलिए यह अब आराम तथा विश्राम लेना चाहता है। यह तो एक 'हरिनाम' के अवलम्बन से ही बड़भागी बनना चाहता है।

अब आप लोग यह सोचते होंगे कि अरे! वेदान्त के अनुसार तो नाम-रूप मिथ्या हैं, तो भला, नाम के आश्रय से आराम या विश्राम कैसे मिल सकता है?

इससे अमरता भी क्योंकर मिलने लगी ? मिथ्या नाम को सुधा या संजीवन बूटी कहना तो निहायत पागलपन है। प्यारे आत्मन्! आप घबड़ाइये नहीं, तनिक राम की बातों पर ध्यान दीजिये। नाम, नामी से भिन्न नहीं होता, क्या 'देवदत्त' कहने से देवदत्त के रूप का बोध नहीं होता ? 'देवदत्त' इस नाम के पुकारने से क्या रूपवान् देवदत्त नहीं बोलता ? या नहीं चला आता ? तब रूप से नाम अलग हो ही कैसे सकता है ? इस रीति से हरि का अर्थ होता है, 'हरण करनेवाला'। अजी! यह हरि तो पाप का हरण करता है, नाश करता है; तो फिर अविद्या या अज्ञान से बढ़कर और दूसरा पाप ही क्या हो सकता है। इस अविद्या ही ने तो जीव को अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित कर रखा है। इसने ही तो जगत् में सत्य तथा सुख की बृद्धि करा डाली है, इसके ही कारण से नाना कर्म-रूप भेड़िये जीव को कुचल-कुचलकर खा रहे हैं। इस अज्ञान-रूपी अविद्या-पाप के नाश होते ही कामना, कर्म एवं कर्म-फल के संम्पूर्ण दुःख-जाल नष्ट हो जाते हैं; इनके नष्ट होते ही जीव अपने असली अविनाशी स्वरूप का अनुभव करने लगता है।

इस अविद्या-रूपी पाप का नाश तो एकमात्र विद्या (ज्ञान) ही कर सकती है। जब हृदय में सत्य ज्ञान-हरि का उदय होता है, साक्षात्कार हो जाता है, तब तो अज्ञान के पाप का एकदम अभाव हो जाता है। अज्ञान के दूर होते ही इस जीव के सभी क्लेश छूट जाते हैं। यह अपने मर्त्यभाव को छोड़कर अमर हो जाता है, आनन्द-स्वरूप ही बन बैठता है। जब नदियाँ अपने स्वामी समुद्र की शरण में जाती हैं, तब क्या उनके नाम-रूप रह जाते हैं ? क्या तब 'गंगा' और 'कर्मनाशा' में कुछ भेद रह जाता है।

अजी ! उन्हें तो यह याद ही नहीं रहता कि हम अमुक स्थान से निकलकर अमुक रास्ते से टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई आ रही हैं तथा यह भी ध्यान नहीं रहता कि हमारे अमुक नाम तथा वर्ण थे और हमारे जल के स्वाद ऐसे थे; वरन् वे तो समुद्र में पहुँचते ही उसमें बिल्कुल घुल-मिलकर उसके ही रूप की हो जाती हैं। वैसे ही इस वैराग्यवान् की वैराग्य-वृत्ति ने अब 'हरिनाम' का शरण ले ली है। यह वृत्ति सब ओर से हटकर अब केवल उस नामी की, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा की बार-बार आवृत्ति

या उसका अभ्यास करते-करते ज्ञानाकार, परमात्मामय, हो जायगी। वह तो बोध की मूर्ति बन बैठेगी। बोध-स्वरूप होते ही वह अपना पहला स्वरूप छोड़ देगी अर्थात् तब वह वृत्ति, वृत्ति ही न रह जायगी। आपने हरि-नाम का मतलब अब समझा न ? देखी न हरि-नाम की महिमा ! बस इसी प्रकार हरि-नाम के आश्रय से अमरता मिल जाती है।

भाई ! यद्यपि नाम-रूप मिथ्या हैं, तथापि इनका असत्य तो लक्ष्य हो ही नहीं सकता। जिस चैतन्यदेव में ये कल्पित हैं, वह तो सद्रूप है, कूटस्थ है, भूमा है, आपका आत्मा है।

जिस प्रकार घर में रखी हुई मणि का प्रकाश किसी झरोखे के द्वारा निकलकर ज़मीन पर पड़े और उस ज़मीन पर पड़े हुए प्रकाश को ही कोई दूर से मणि समझकर दौड़े, तो वह उस नक़ली मणि (प्रकाश) के ही ज़रिये असली मणि को पा जायगा, क्योंकि उस प्रकाश के पास पहुँचने पर वह उस प्रकाश को झरोखे से निकलता हुआ देखकर, उस झरोखे के अन्दर देखेगा, तो उसे सच्ची मणि दिखलायी देगी। उसी प्रकार

यह अंतःकरण की वृत्ति कल्पित नाम-रूप के द्वारा अधिष्ठान ब्रह्म का पता लगा ही लेती है।

प्रिय पाठकगण ! अब तो आप यह भली भाँति समझ गये होंगे कि वृत्ति क्या है ? और वह क्या-क्या तमाशा करती रहती है ? तथा उसके द्वारा जीव का बन्ध और मोक्ष किस प्रकार होता है। यह अखिल द्वैत प्रपञ्च-वृत्ति से ही बना हुआ है, अतएव यह वृत्ति रूप ही है और वृत्ति तो आत्मानन्द की एक लहर (तरंग) है, इसलिये वह वृत्ति आत्मानन्द से भिन्न नहीं हो सकती, तथा आत्मानन्द अनन्त है, अखण्ड है, वह आपका सच्चा स्वरूप है, वही आप हैं।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वृत्ति का ईश्वर और जीव बनाना

जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ा हुआ वट-बीज जल पाकर पहले अच्छी प्रकार खिल उठता है, मोटा हो जाता है, फिर उसमें से सूक्ष्म अंकुर निकल पड़ते हैं, पुनः वे ही अंकुर बढ़कर स्कंध, डाली, पत्ते आदि के रूपों में हो जाते हैं,

अथवा जैसे हिमालय का जमा हुआ खूब मज़बूत बर्फ़ गर्म सूर्य का ताप पाकर प्रथम पिघल उठता है, तदन्तर सूक्ष्म नदियों के रूप में वह निकलता है, फिर वे ही नदियाँ पहाड़ों में उछलती-कूदती, शोर-गुल करती हुई नीचे वसुंधरा देवी की गोद में आ उतरती हैं।

नीचे आते ही वे फैलने तथा परस्पर मिलने लगती हैं। नतीजा यह होता है कि वे बड़े विस्तार को धारण कर लेती हैं। अब उनमें मकर, मछली, कच्छप आदि जल-जन्तु दिखायी देने लगते हैं। अब कहना ही क्या है? लगती हैं नौकायें चलने तथा नर-नारि-वृंद लगते हैं इस पार से उस पार उतरने। वैसे ही सृष्टि की आदि में ब्रह्माश्रया माया-वृत्ति प्राणियों के कर्म-फल की परिपक्वता-रूपी जल को पाकर खिल उठती हैं, अर्थात् उसमें सृष्टि-रचना की इच्छा अथवा संकल्प उठता है। तब फिर वह वृत्ति पहले सूक्ष्म जगत के रूप में अंकुरित होती है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण ये बन जाते हैं। पुनः वही सूक्ष्म सृष्टि स्थूल जगत् के रूप में परिणत हो जाती है, अर्थात् ऊपर के सात लोक—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यः तथा नीचे के

सात लोक—तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल और पाताल, ये चौदह भुवन उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं चौदह भुवनों से बने ब्रह्माण्ड के भीतर देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणी निवास करते हैं।

प्रिय वाचक जिज्ञासुओ! यहाँ तीन प्रकार का जगत् कहा गया है, जैसे—कारण (माया), सूक्ष्म और स्थूल। जब तो निर्विकारी परमात्मा का कारण जगत् से कल्पित सम्बन्ध होता है, तब तो उस कारण जगत् (माया-वृत्ति) में ऐसा अभिमान उठता है कि मैं एक हूँ, सृष्टि का कर्ता हूँ, सर्वज्ञ हूँ इत्यादि, इसलिए वह माया का अभिमानी परमात्मा 'अन्तर्यामी ईश्वर' कहलाने लगता है। फिर सूक्ष्म जगत् के अभिमान से 'हिरण्यगर्भ' और स्थूल जगत् का अभिमान करने से उसकी 'विराट' संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार एक ही अद्वितीय चेतन, स्थूल सूक्ष्म और कारण, इन तीन जगत् के अभिमानी होने से अर्थात् इनका धारण-पोषण करने तथा इनका शासक एवं प्रेरक बनने से क्रमशः विराट, हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) और अन्तर्यामी हो जाता है।

तू धन्य है, वृत्ते! तेरी महिमा बड़ी विलक्षण है। तूने

कैसा क्रूर कर्म किया। हाय ! कहाँ एक ही अद्वितीय शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें स्थित था, कहाँ अब 'एकोऽहम् बहुस्याम' अर्थात् 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ' इस तनिक-सी वृत्ति के उठते ही वह नाम-रूप के अन्दर पड़कर सृष्टि-सृजन, पालन, नाश इत्यादि अनेक व्यापार करने लगा ! ऐ वृत्ते ! अब भी दया कर उस अविकारी पर। उसको इतना न सता, उसे सृष्टि आदि के पचड़े में न डाल, उसे अपनी ही महिमा में रहने दे। तू अब भी इस निर्दयता का त्याग करके विश्राम ले।

ईश्वर की सात्विक संकल्प-वृत्ति से अन्तःकरण बना है, अतः वह स्वच्छ है। चूँकि अंतःकरण का अधिष्ठान परमात्मा है, इसलिए अन्तःकरण में परमात्मा का प्रकाश पड़ता है। अजी ! अधिष्ठान का मतलब यह न समझना चाहिये कि जैसे पृथिवी पर तख्ता रखा हो। यह अधिष्ठान ब्रह्म तो अंतःकरण में वैसे ही व्याप्त रहता है, जैसे भ्रम-स्थल पर सर्प में रस्सी का भाव। जैसे रस्सी ही की वजह से सर्प दिखायी देता है, उस सर्प के हरएक अङ्ग में एक रस्सी ही ठसाठस भरी रहती है, वैसे ही सत् चित्-रूपी परमात्मा अन्तःकरण में भरा पड़ा रहता

है। इसलिये उस परमात्मा की सत्यता से तो अन्तःकरण सत्य, एवं चैतन्यता से चैतन्य-सा प्रतीत होता है। केवल अंतःकरण ही नहीं, अपितु समस्त ब्रह्मांण्ड ही उस प्रकाश-स्वरूप अविनाशी से ही सत्य-सा प्रतीत हो रहा है। सूर्य के प्रकाश से अथवा किसी दीपक की रोशनी से ही तो चीज़ें दिखलायी देती हैं। परन्तु वह सूर्य और दीपक तो सारी दुनिया को प्रकाशित कर ही नहीं सकता और उन पदार्थों से जुदा ही रहता है, जिनको उजाला करता है। लेकिन आत्मा—परमात्मा—में तो यह विलक्षणता है कि वह जगत् में घुल-मिलकर उसको प्रकाशता है। प्यारे पाठकगण ! सूर्य-चन्द्र आदि भी जब पहले उसी तेज-पुञ्ज से प्रकाशित हो लेते हैं, तब दूसरे को अपना प्रकाश देते हैं। अजी ! रोशनी तो उनकी अपनी (निजी) नहीं होती , वह तो उस अनन्त-देव से माँगी हुई रहती है। यदि वह अनन्त अविनाशी उनमें न रहता तो उनका प्रकाश करना तो दूर रहा, वे कभी के लापता हो गये होते।

जैसे किसी दीवार (भीति) पर सूर्य-प्रकाश सामान्य-रूप से तो पड़ा ही रहता है, फिर वही उस धूप में रखे

हुए किसी दर्पण पर पड़कर उसमें ही से होकर निकलता हुआ जान पड़ता है,तब तो वहाँ उस दीवार पर दो प्रकाश दिखायी देते हैं; एक तो सामान्य सूर्य-प्रकाश और दूसरा दर्पण का। आपने देखा होगा, कि उसमें पहला सूर्य-प्रकाश व्यापक होता है और दूसरा दर्पण में से होकर निकला हुआ एकदेशीय एवं परिच्छिन्न रहता है। पहला प्रकाश विम्ब तथा असली होता है और दूसरे को तो प्रतिविम्ब तथा नकली समझना चाहिये। वैसे ही अन्तःकरण में दो चेतन होते हैं, एक तो व्यापक और दूसरा परिच्छिन्न। व्यापक चेतन तो वह चेतन है, जो मिट्टी, पत्थर, वृक्ष आदि जगत् के सभी पदार्थों में भरा पड़ा है, इसलिये उसे 'सामान्य चेतन' कहते हैं और वह सत्य है; और दूसरा तो केवल अंतःकरण मात्र में ही रहता है, इसलिये वह 'विशेष चेतन' या 'चिदाभास' कहा जाता है और वह समान्य चेतन का प्रतिविम्ब है, अतएव मिथ्या ही है। सामान्य चेतन तो निर्विकारी होता है अर्थात् अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियों से आकाशवत् असंग और निर्लेप रहता है, अतः उसे कूटस्थ कहते हैं, परन्तु चिदाभास तो अंतःकरण तथा उसकी वृत्तियों के धर्मों से लिप्त हो जाता है,

*इस कारण से वह जीव नाम से कहा जाता है।

जीव अन्तःकरण की वृत्तियों में पड़कर उनके आधीन हो जाता है. अब तो वह अपने सच्चे अविनाशी स्वरूप कूटस्थ को भूलकर एक पञ्चभौतिक शरीर को ही अपना स्वरूप मानने लगता है। अजी! वह तो अपने को साढ़े तीन हाथ की काल-कोठरी में बन्द कर देता है। चूंकि नश्वर शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेता है, इसलिये शरीर के जन्म से अपनी उत्पत्ति तथा उसके नाश से अपनी मृत्यु मानने लगता है।

यह लोक में देखा जाता है कि कोई छोटे, बड़े, लम्बे, चौड़े इत्यादि जैसे-जैसे पात्रों में जल रखता चला जाता है, जल का आकार भी ठीक वैसा ही-वैसा होता जाता है; बस यही दशा वृत्ति की भी है। वह जिस-जिस पदार्थ से सम्बन्ध करती जाती है, उसी-उसी आकार की होती जाती है। फिर पूछना ही क्या है? उस वृत्ति में पड़ा हुआ कूटस्थ का प्रतिविम्बरूपी जीव भी वृत्ति-सा होता जाता है। अन्तःकरण की वृत्ति जगत् के पदार्थों में सुख मान कर उनकी प्राप्ति के निमित्त उद्योग में

---

* "वृत्ति क्या है?" इस शीर्षक को आगे देखिये!

लग जाती है, तब कर्त्ता—अहंकार—अन्य सब इन्द्रियों के द्वारा कर्मों के करने में लग जाता है, करणरूपी मन तथा वृत्ति के कर्तृत्व को ही तो कर्म या क्रिया कहते हैं। वैसेही जब वृत्ति इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंसे जा लिपटती है, तब यह विषयों से मिली हुई वृत्ति तो भोग्य और जब उन विषयों से सुख का अनुभव करने लगती है, तब भोक्ता-बुद्धि होती है। तथा सुखोपभोग-वृत्ति को ही भोक्तृत्व (भोक्तापन) कहा जाता है। जब वृत्ति किसी विषय को जानने के लिये उससे जा मिलती है, तब ज्ञेय, और जब जानने लगती है तो ज्ञाता या बुद्धि होती है तथा जानने को ही तो ज्ञान कहते हैं। इस रीति से एक ही वृत्ति कर्त्ता, कर्म और क्रिया; भोक्ता, भोक्तृत्व तथा भोग्य; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूप में हो जाती है। क्योंकि वृत्ति जड़ होने के कारण स्वतः कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता इत्यादि नहीं हो सकती, परन्तु अपने में प्रतिबिम्बित जीव की चैतन्यता पाकर यह सब हो जाती है, अथवा यों कहिये कि सर्व-व्यापी निष्क्रिय आत्मा को अपने में प्रतिबिम्बित करके अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों को उसके माथे मढ़ देती है, बेचारे को जीव-कोटि में कर देती है। अजी! जीवत्व

है ही क्या ? कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि की वृत्ति ही तो जीवत्व है। सचमुच जिस समय अन्तःकरण में कर्तृत्वादि की वृत्तियाँ न उठें, किसी प्रकार का अभिमान न उठे, उस समय में जीवत्व छूट ही जाता है। यह जीव मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है, इसे बड़ा सुख होता है, और यह अपने आनन्द-रूप से सुशोभित होता है।

प्रिय मुमुक्षुवृन्द ! वृत्ति में पड़ा हुआ यह अविकारी महेश्वर अपने को झूठ-मूठ ही कर्त्ता, भोक्तादि धर्मों-वाला मान लेता है। भला, यदि जाग्रत् अवस्था न होती, तो यह आत्मा 'विश्व' क्यों कहलाता ? स्वप्नावस्था के कारण ही तो 'तैजस' कहलाता है ? और 'प्राज्ञ' भी तो सुषुप्ति के ही सम्बन्ध से कहलाता है। ये अवस्थायें वृत्ति की ही होती हैं, क्योंकि सतोगुणी वृत्ति की प्रधानता से जाग्रत् और रजोगुणी वृत्ति की वृद्धि से स्वप्न और तमोगुणी वृत्ति से सुषुप्ति अवस्था होती है।

आत्मा के जीवत्व में यह भी युक्ति है कि जब आत्मा स्थूल शरीर का अभिमान करता है, उसे ही अपना रूप मान लेता है, तब 'विश्व', और जब सूक्ष्म शरीर का अभिमानी बनता है, तब 'तैजस' तथा कारण

शरीर का अभिमान करने से 'प्राज्ञ' कहलाने लगता है। विश्व, तैजस और प्राज्ञपन ही तो जीवत्व है। जाग्रत् अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म और कारण जैसे इन तीन शरीरों के रहते हुए भी स्थूल शरीर की प्रधानता रहती है, वैसे ही स्वप्नावस्था में कारण और सूक्ष्म, ये दो ही शरीर रहते हैं, परन्तु प्रधानता सूक्ष्म की ही रहती है, तथा सुषुप्ति में केवल कारण-शरीर का ही भान होता है।

अब पाठकगण पूर्व विवेचन से समझ ही गये होंगे कि परमात्मा अपनी माया-वृत्ति के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के तीन शरीरों तथा तीन अवस्थाओं में व्याप्त होकर उनका धारण-पोषण करने के कारण अन्तर्यामी ईश्वर कहलाता है और एक शरीर में की तीन अवस्थाओं तथा तीन शरीरों का अविद्या-वृत्ति के द्वारा धारण-पोषण करनेवाला अथवा इनको अपना रूप ही मान लेता है, तब वही अल्पज्ञ जीव हो जाता है। अजी! वेद-वेदान्त में इसी ईश्वर को तो तत् पद और जीव को त्वं पद कहा गया है। फिर ब्रह्माण्ड भरके शरीर तथा उसकी अवस्थाओं के सहित चेतन तो तत् पद का वाच्चार्थ कहलाता है और अवस्था एवं शरीर-रूप उपाधियों को मायामय कल्पित समझकर

(अर्थात्, ऐसा जानकर कि यह विश्व स्वप्न-सृष्टि के सदृश मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है, वास्तव में यह है नहीं) इनका त्याग कर देने पर जो केवल चेतन बचता है, उसको तत् पद का लक्ष्यार्थ कहा गया है। इसी प्रकार एक शरीर के अन्दर व्याप्त होकर उसमें की तीन अवस्थाओं तथा तीन शरीरों के सहित वही परमात्मा त्वं पद का वाच्यार्थ कहा गया है और शरीर तथा अवस्थाओं से अलग कर देने पर जो केवल चैतन्यमात्र शेष रह जाता है, वही त्वं पद का लक्ष्यार्थ कहलाता है।

मेरे प्रिय आत्मन्! अब आप विचार करके देखें तो सही, तनिक अच्छी प्रकार ध्यान तो दें! पूर्व कथित तत् पद और त्वं के वाच्यार्थ को छोड़ देने पर, उसका बाध कर देने से, उसको मिथ्या समझ लेने पर अब बचता ही क्या है। अजी! इन दोनों वाच्यार्थों को छोड़ते ही क्या होगया। लो, तमाम बनी-बनायी बात बिगड़ गयी, ज़रा सा में सब मामला गायब। आपने तो यह अजब तमाशा किया। समस्त ब्रह्माण्ड को तैयार करके क्षण-मात्र में मिथ्या कर दिया। आपकी इस युक्ति ने तो अखिल विश्व को ही खा लिया। अजी! यह तो बड़ी

निर्दयी है। हाय! हाय! जगत् के सारे जीव ही नष्ट हो गये! अब तो ईश्वर भी नहीं रह गया। जिन माया-वृत्ति और अविद्या-वृत्ति ने ईश्वर, जगत् और जीव बनाये थे, अब तो उनका भी बिलकुल अभाव हो गया। अजी! माया-जनित प्रपञ्च के अभाव होने पर भी तो एक तत्व बच ही रहता है! आप कह सकते हैं कि वह क्या है? वही वस्तु है जो दोनों वाच्यार्थों के त्याग कर देने पर दोनों का लक्ष्यार्थ बचा था। उन दोनों का लक्ष्यार्थ तो एक ही है, भेद तो केवल वाच्यार्थ में ही है। वह लक्ष्यार्थ सच्चिदानन्द-स्वरूप है, अमृत है, अविनाशी है, वह आपका आत्मा है, वही मैं हूँ। अहाहा! मैं आनन्द हूँ, मनवाणी से परे हूँ, शिव हूँ, कैवल्य हूँ, शान्त हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर (क)

प्रश्न—अविकारी तथा निर्गुण ब्रह्म में यह सगुण जगत् कैसे होगया ?

उ०—भाई ! माया की महिमा अचिन्त्य है, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। उसीने निर्विकारी ब्रह्म को विकारवान् बना डाला है, उसीने उस निर्गुण में गुणमयी सृष्टि दिखा दी हैं, परन्तु साथ-ही-साथ उस परमात्मा की निर्विकारता एवं निर्गुणता में रंच भी अन्तर नहीं पड़ने दिया है।

प्र०—आप वेदान्तियों को जब यथार्थ उत्तर नहीं सूझता, तब अचिन्त्य और अनिर्वचनीय कह डालते हैं। क्या यह टाल-मटोल कर देना नहीं है। अजी ! आप लोगों का यह अनिर्वचनीयवाद तो बहुत ही कच्चा है।

उ०—आप द्वैतवादी यदि अनिर्वचनीयवाद नहीं मानते, तो आप ही बतलाइये न, कि एक नन्हें से वट-बीज में से अति विशाल वटवृक्ष कैसे निकल आता है ? अजी ! उस बीज में वह वृक्ष कहाँ छिपा रहता है ? क्या यह बात बुद्धि में आ सकती है ? जी नहीं; यदि

यह अचिन्त्य नहीं है, तो और है ही क्या। खेत में छोटे-छोटे अन्न-कण फेंक दिये जाते हैं और वे जमकर तमाम घास-ही-घास हो जाते हैं, फिर उन घासों—अन्न के पौधों—में अन्न के ढेर कहाँ से आ लगते हैं ? क्या यह कोई बता सकता है ?' और तो जाने दीजिये, यह तो बतलाइये कि द्रवीभूत रज-वीर्य के गर्भाशय में पड़ते ही वे कठिन पिंडाकार के रूप में कैसे और क्यों हो जाते हैं ? फिर उस पिण्ड में से हड्डी, नख, केश, मांस, चर्मादि क्योंकर निकल आते हैं ? इसके बाद उसमें चेतना कहाँ से आ टपकती है ? फिर वही बालक के रूप में पैदा होता है और फिर बढ़ते-बढ़ते तरुण हो जाता है। तरुणाई के आते ही दाढ़ी, मूँछें आदि निकल पड़ती हैं, फिर तो वह मनुष्य धीरे-धीरे वृद्धावस्था से ग्रसित होकर मृत्यु का शिकार बन जाता है और इस असार संसार से चल बसता है।

मेरे प्यारे आत्मन् ! यह सब माया नहीं है, तो और है ही क्या ? क्या आप कह सकते हैं कि यह सब कैसे हो जाता है ? क्या यह सब रज-वीर्य की महिमा है ? कदापि नहीं। रज-वीर्य तो वन्ध्या के भी होते

हैं, उसमें इनसे यह सब खेल क्यों नहीं हो जाता? भाई यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि यह सब कैसे और क्यों होता है। बस इसी को तो अचिन्त्य एवम् अनिर्वचनीय कहते हैं। अजी! जो विषय बुद्धि में ही नहीं आ सकता, जिसको वाणी कह ही नहीं सकती वह अचिन्त्य नहीं है, तो और क्या है? यही तो अनिर्वाच्यवाद है।

अरे भलेमानुसो! पूर्वोक्त रीति से जब माया के एक-एक कार्य के विषय में मन, बुद्धि और वाणी नहीं पहुँच सकती, तब यदि हम वेदान्ती साक्षात् माया को ही अचिन्त्य अथवा अनिर्वचनीय कह डालते हैं, तो कौन सी अनुचित बात कहा करते हैं?

प्र०—वह एक ही ईश्वर इस जगत का उपादान कारण तथा निमित्त-कारण दोनों कैसे हो सकता है?

उ०—अजी! हम तो पहले कह चुके हैं कि उस माया के लिये कोई भी समस्या अघटित नहीं है; वह जो कुछ कर दे, उसके लिये थोड़ा ही है। इस अचिन्त्य शक्ति के कार्य-विषय में अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता और निमित्त कारणता

इन दोनों के विषय में आप जितनी ही खोज करते जायँगे उतनी ही उलझन में पड़ते जायँगे, अधिकाधिक भ्रम बढ़ता जायगा, तर्क-संशय आपका पिण्ड ही न छोड़ेंगे, क्यों ? कैसे ? इत्यादि के सवाल और भी दृढ़ होते जायँगे । इन्हें सुलझाना मुश्किल हो जायगा । सुलझाना तो दूर रहा, ये प्रश्न कभी हल ही नहीं हो सकते । इससे भाइयो ! आप इन प्रश्नों को जाने दें, आपको बाल की खाल के निकालने से क्या मिलेगा । जैसे बालू की भीत नहीं उठायी जाती, पानी पर रेखा नहीं खींची जाती, वैसे ही सृष्टि का यथार्थ पता भी नहीं लगाया जा सकता ।

यदि आप को ढूँढ़ना ही है, तो ढूँढ़िये उस अविनाशी को, जो आपका अपना आप है, जिससे शान्ति तथा विश्राम मिलता है । प्यारे आत्मन् ! यदि आपको अपने पूर्वोक्त प्रश्न के विषय में कुछ सुनना ही है, यदि कुछ सुने विना आपको संतोष नहीं आता, तो हम कुछ कहते हैं, आप ध्यान देकर सुनिये । परन्तु पहले आपको अपने तर्कों को दूर करके श्रद्धा से थोड़े में ही संतोष करना होगा । ऐसा न करने से पूर्वोक्त अड़चनें आपका पिण्ड न छोड़ेंगी । अच्छा, अब सुनिये ।

मान लीजिये कि आप एक सम्पत्तिशाली श्रीमान् पुरुष हैं। आपने खा-पीकर रात को एक उत्तम शय्या पर शयन किया। शयन करते ही आप पर निद्रा देवी की कृपा हो गयी। अब आप नींद में क्या देखते हैं कि दिन का समय है, दो पहर (मध्याह्न) हुए हैं, अब मुझे भूख खूब सता रही है, जिससे मैं एक अपरिचित नगर में दर-दर भीख माँग रहा हूँ। मैंने दिन भर तो भिक्षा माँगी, फिर जब शाम हुई, तब एक सड़क पकड़े हुए उस नगर से बाहर निकला और दैव-योग से एक भयानक जंगल में जा पड़ा। अब तो रात हो चली और मैं अपना रास्ता भी भूल गया। अरे! यह हाथियों का झुण्ड है, क्या ठीक, ये तो हाथी ही हैं। देखो न, ये अपने बड़े-बड़े दाँतों को निकाले हुए इधर ही आ रहे हैं। अब तो हमें इधर से भागना चाहिये, यह सोचकर ज्योंही एक दूसरी ओर भागे कि उधर से रीछ दिखायी पड़े। अरे! अब तो बड़ा बेढब मामला आ पड़ा। हाय! हाय!! अब तो जान न बचेगी। हे ईश्वर! मुझ भूख-प्यास से मारे हुए और थके-माँदे पथिक की रक्षा कर, मेरे प्राण बचा। यहाँ तेरे सिवा मेरा कोई भी नहीं है, एक तू ही इस असहाय का सहायक है।

इस प्रकार की बहुत-सी विनती करने पर, उस दयालु ईश्वर ने अरज़ी सुन ही ली, उसने दया कर ही दी। क्या हुआ कि एक ओर से शेर दिखायी दिया। अरे! देखो न, यह तो लाल-लाल आँखें निकाले, मुख फाड़े, पंजों के बल छलाँगें मारते, चौकड़ी भरते हुए चला आ रहा है।

ओफ़! यह कैसा भयानक शेर है! लो! इसने तो मुझे देख लिया। वह अब मेरी जान ही न छोड़ेगा। यह तो मुझे मारकर खा ही जायगा। हाय! हाय!! मैं अनाथ मारा गया। ऐ ईश्वर! मुझे जल्दी बचा, जल्दी बचा! इस प्रकार की खलबली हृदय में मची ही थी कि उस शेर ने बड़े ज़ोरों से एक गर्जना की, उस भयंकर आवाज़ के सुनते ही आप चौंक पड़े और आपकी नींद टूट गयी।

अब आप क्या देखते हैं कि मैं सुखपूर्वक अपने कमरे में पलँग पर लेट रहा हूँ। न तो मुझे भूख लगी है, न प्यास, और न मैं भिक्षा ही माँग रहा हूँ। न तो यहाँ जंगल है और न हाथी, रीछ और न शेर आदि जानवर ही हैं; परन्तु छाती अभी तक धड़क रही है, शरीर काँप रहा है, बार-बार रोमांच हो रहा है, मारे डर के बोला नहीं जाता। तू धन्य है री निद्रे देवि! तेरी बड़ी ही

विचित्र महिमा है, तूने क्षण-मात्र में कैसा तमाशा कर दिखाया ? कैसा खेल किया । अरी ! तूने तो मुझ निर्दोषी को भारी संकट में डाल दिया ।

पाठकगण ! अब ध्यान देकर सुनें, और सोचें-विचारें । यह एक बड़ा ही अच्छा दृष्टांत कहा गया है । इस दृष्टांत से वेदांत-सिद्धांत अच्छी तरह समझा जा सकता है । इससे बहुत-से आध्यात्मिक प्रश्न हल हो सकते हैं । अजी ! जब आपने ऐसा अद्भुत स्वप्न देखा था, जिस समय वह आश्चर्यमय दृश्य बन गया था, तब उसको किसने बनवाया था ? क्या उस समय वहाँ आप स्वयं अकेले ही न थे ? क्या आपने उस कमरे में मृदु शय्या पर अकेले ही शयन न किया था ? फिर जब वहाँ दूसरा कोई था ही नहीं, तब उस स्वप्न-सृष्टि के रचयिता आप ही न हुए, तो दूसरा और हुआ कौन ? इसी को 'निमित्तकारणता' कहते हैं । आप वहाँ स्वप्न-सृष्टि के 'निमित्तकारण' स्वयमेव हुए थे ।

अब आप यह बताइये कि आपने उस सृष्टि को किस सामग्री से बनाया था ? उस समय वहाँ कौन-से पदार्थ थे ? आपको कहना होगा कि जब मैं वहाँ अकेला ही था, तब वहाँ दूसरी सामग्री ही कौन सी थी ? अजी !

वहाँ तो दूसरा कुछ था ही नहीं, बल्कि मैंने तो उस सृष्टि को अपने शरीर के अन्दर ही अपने-आप देखा था। बस, आपका इस प्रकार का उत्तर ही आपकी 'उपादान कारणता' को सिद्ध करता है। उस स्वप्नावस्था में आपने अपने को ही अनेक रूपों में देखा था, या यों कहिये कि आप स्वयं ही अनेक आकार-प्रकार के हो गये थे। भिक्षुक बने आप, नगर बने आप तथा दिन-रात के रूप में भी स्वयमेव आप ही हो गये थे। कानन-मार्ग, भालू तथा हाथी भी आप ही बने थे, वहाँ आपने स्वयमेव व्याघ्र बनकर अपने-आपको दिखलाया था और बड़े ज़ोरों से गर्जना भी की थी। अधिक कहाँ तक कहा जाय, वहाँ पर आकाश, पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र, पशु-पक्षी, मनुष्य इत्यादि सब आप ही बन बैठे थे। यहाँ तक कि वहाँ जिस ईश्वर ने स्मरण-द्वारा प्रसन्न होकर आपके उस दुःख को दूर करने के लिये शेर को भेजा था, वह ईश्वर भी आप ही स्वतः बन गये थे। इस प्रकार वहाँ की सब सृष्टि के 'उपादान कारण' आप ही स्वयं हुये थे।

हे प्रिय मेरे अविनाशी आत्मन्! आप विचारें तो सही। आप निद्रा-दोष से अपने को क्षणमात्र के लिये भूल

गये थे, तब अपने को न जानना रूपी एक छोटे से अज्ञान या अविद्यांश ने एक भारी जगत् रच डाला था। आपको 'उपादान कारण' तथा 'निमित्तकारण' दोनों ही बना डाला था, तब भला जो ईश्वर के आश्रय में विशाल मूलाज्ञान है, वह यदि ईश्वर में प्रपंच की उपादानकारणता और निमित्तकारणता दिखला दें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी मूलाज्ञान को तो अचिन्त्य शक्ति कहते हैं।

प्रश्न—अजी! मैंने तो क्षणमात्र में उत्पन्न हुई स्वप्न-सृष्टि का अनुभव किया था, परन्तु यह जगत् तो अनादि काल का से ऐसा ही प्रतीत होता आ रहा है, यह क्यों?

उत्तर—यह शङ्का तो थोड़े से ही विचार से दूर हो जायगी। जिस समय आप स्वप्नावस्था में थे, उस समय क्या आपको यह मालूम होता था कि यह सब मैं क्षणमात्र की नींद में ही देख रहा हूँ? या अभी क्षणमात्र का ही विलम्ब लगा है। ऐसा नहीं है, उस समय तो आप यही जानते थे कि इस जगत में मैं अनादि काल से पड़ा हूँ। अजी! जिस प्रकार उस समय तो आपका वह संसार बिलकुल सत्य तथा पुराना प्रतीत होता था, परन्तु नींद

के टूटते ही यह मालूम पड़ने लगा कि अरे! मैंने क्षणमात्र में ही अनादि काल का अनुभव किया था और वह सृष्टि भी बस मिथ्या सृष्टि ही थी, उसी प्रकार यह ईश्वर-रचित जगत भी अनादि काल का तथा सत्य-सा प्रतीत हो रहा है, परन्तु जब आप सद्गुरु के उपदेश से अज्ञान-निद्रा से जगकर भ्रान्ति की शय्या से उठ खड़े होंगे, तब आपके लिये यही सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या हो जायगा। यह अनादि काल का दुःस्वप्न नष्ट हो जायगा। तब तो आप अपने स्वरूप को—एक ब्रह्म को—ही देश, काल तथा वस्तु से रहित पायेंगे।

प्र०—अजी महाशय! आप वेदान्ती तो ईश्वर को इस संसार से जुदा बतलाया करते हैं, फिर आप कभी कहते हैं कि वह संसार के रूप में खुद हुआ है; यह कैसा विरोधी भाषण है?

उत्तर—भाइयो! हमारे भाषण में रंच भी अन्तर नहीं है। अन्तर तो केवल समझने में है। आप ही न बतलावें कि क्या आप अपनी उस स्वप्न-सृष्टि से बिलकुल ही भिन्न न थे? क्या आपने सचमुच भूख-प्यास से व्याकुल हो, दर-दर भीख माँगी थी? क्या आपका मार्ग

भूलना तथा जंगल में भटकना झूठ न था? आपका ईश्वर-स्मरण और शेर का गुरगुराना भी तो झूठ ही था। आपने तो खा-पीकर उत्तम शय्या पर सुखपूर्वक शयन किया था। वैसे ही परमात्मा भी अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहता है, वह सचमुच जगत् की सूरत में नहीं हो जाता; यह सब तो उस अनिर्वचनीय माया की ही महिमा है।

प्रश्न—जब अद्वैतवादी कहा करते हैं कि जीव का असली स्वरूप निर्विकल्प है, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भी तो कल्पना ही है। फिर इस प्रकार के अभ्यास से अपने निर्विकल्प-स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्या अन्धकार से प्रकाश की प्राप्ति हो सकती है? जब कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस कल्पना से निर्विकल्प ब्रह्म मिल ही नहीं सकता, तब उसकी प्राप्ति के लिये इसका अभ्यास ही क्यों बतलाया जाता है? अथवा ब्रह्मात्मा की अप्राप्ति से तो आपके ही सिद्धान्त से 'दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति'-रूपी मोक्ष न प्राप्त हो सकेगा।

यद्यपि दुनिया की सारी कल्पनायें अपने स्वरूप की प्राप्ति में बाधक हैं, तथापि 'अहं ब्रह्मास्मि' की कल्पना तो

आत्म-प्राप्ति के समस्त विघ्नों को, समस्त आवरण (परदे) को नष्ट कर देनेवाली है। जिस प्रकार आक का दूध, दूध ही होता है और गाय या बकरी का भी दूध, दूध ही है; परन्तु आक के दूध को खाने से या नेत्रों में लगाने से शरीर रोग-ग्रसित हो जायगा, नेत्र फूट जायँगे; परन्तु गाय अथवा बकरी के दूध का इस्तेमाल करने से शरीर पुष्ट एवं आँखें विशेष रोशनी वाली (चंगी) हो जायँगी। इसी तरह ओला या बर्फ़ भी जल ही होता है और ओस से बरसाया हुआ जल भी जल ही रहता है; परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। ओले या बर्फ़ के पड़ने से तो खेती का नाश हो जाता है और जल की वृष्टि से अधिक उपज होती है। उसी प्रकार संसारी कल्पनाओं से तो अविद्या या अज्ञान की वृद्धि होकर आत्मानन्द ढक जाता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' की कल्पना से, इसके अभ्यास से, अविद्या का नाश होकर आत्मानन्द की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार तुषार कमल का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कल्पना भी अज्ञान को नष्ट करके स्वतः नष्ट हो जाती है।

अजी ! यह 'ब्रह्मास्मि' की कल्पना तो उस निर्विकल्प के आवरण (अज्ञान) को नष्ट करके आप भी अपने को खो देती है। वह तो यह सोचती है कि जब मैं सारी कल्पनाओं को, समस्त प्रपञ्च को बरबाद करने चली हूँ, तब मैं कौन हूँ ? मैं भी तो एक कल्पना ही हूँ, प्रपंच ही की तो एक वस्तु हूँ ? बस ऐसा विचार करते ही वह गुप्त हो जाती है। उसके अभाव के होते ही वह कल्पनातीत ब्रह्म, तेजोपुञ्ज आत्मदेव वायु-रहित स्थान में दीपक की तरह अपने आप सुशोभित होता है। इस विषय को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये आप पूर्वोक्त अपने स्वप्न को ही ले लीजिये।—

जिस समय आप भूख-प्यास से व्याकुल होकर अँधेरी रात के समय में निविड़ विपिन में भ्रमण कर रहे थे और हिंसक जीवों से व्यग्र हो रहे थे, जब आपके प्राण ही निकलना चाहते थे; उस समय आपके दुःखों का अन्त किसने किया था ? आपके प्राण किसने बचाये थे ? उस स्वप्न के शेर ने ही तो ऐसा किया था ? यदि उसने गर्जना न की होती तो आपकी नींद उस समय कैसे टूटती, और आपका दुःख क्योंकर दूर होता। अजी ! उस व्याघ्र

ने तो आपके भिक्षुक शरीर, जंगल, हिंसक जन्तु इत्यादि सम्बन्धी स्वप्न सृष्टि के सहित आपकी विपत्ति को विदीर्ण करके ही छोड़ा। अब आप तनिक विचारें तो सही। क्या उसशेर ने सबका नाश करके अपना भी नाश नहीं कर लिया? क्या उसने स्वप्न की सारी चीज़ों को खाकर अपने को नहीं खा लिया? क्या सोकर उठने पर आपने उसे देख पाया था? कदापि नहीं।

अच्छा, अब आप यह तो कहें कि क्या वह सच्चा शेर था? जी नहीं, वह तो झूठा था; बिल्कुल कल्पित था। परन्तु उस क़ल्पित शेर ने कैसा अद्भुत कार्य किया? उसने तो आपके निखिल दुःख-जाल का ही उच्छेद ही कर दिया, उसने तो आपको आपके सच्चे स्वरूप की प्राप्ति करायी। ठीक इसी तरह यद्यपि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भी एक मिथ्या कल्पना ही है, तथापि यह तो आपके अनादि काल के कल्पित दुःख तथा जीवपने का नाश करके वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन को प्राप्त करा देनेवाली है। यह मोह-निद्रा का विनाश करके संसार-स्वप्न को दूर कर देने में वैसे ही समर्थ है, जैसे रवि रजनी के लिए। इसलिए आप विश्वास रखिये।

यह कल्पना आपको मुक्त अवश्य करा देगी, आपको मुक्त करते ही आप भी मुक्त हो जायगी। स्वतः यह ब्रह्म-तेज में, आत्म-प्रकाश में विलीन हो जायगी। फिर कभी आप जन्म-मरण का स्वप्न ही न देखेंगे। अतएव आप इस कल्पना से डरें मत, अपितु इसका समादर सहर्ष तथा सप्रेम करें। आइये, हम सब मिलकर ऊँचे स्वर से 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाठ करें।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर (ख)

प्र०—यदि आप ईश्वर हैं, तो यह बताइये कि इस समय कलकत्ता या बम्बई में क्या हो रहा है?

उत्तर—भाई! बताना और न बताना मेरा धर्म नहीं, मैं तो निष्क्रिय हूँ। जो लोग भूत, भविष्य या परोक्ष की बातें बतला देते हैं, उनमें वह ब्रह्म-ज्ञान की महिमा नहीं रहती है, बल्कि वह तो पात्र की खूबी रहती है। मान लीजिये कि आपके नेत्रों में मोतियाबिन्द का रोग है, इस-लिए आपकी आँखों से कम दिखाई देता है; लेकिन जब

आपने आँखें बनवा लीं और चश्मा लगा लिया, तब तो फिर ख़ूब दिखाई देने लगा। यदि आपको कहीं से दूर्बीन मिल गया, तब तो बहुत दूर तक देखने लगे और फ़िर जब आपको ख़ुर्दबीन दे दिया गया, तब तो कहना ही क्या है? अब तो आप सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तुओं को देखने लगे, यहाँ तक कि अब आपसे शरीर के कीटाणु भी न छिप सके। अब कहिये! क्या यह सब प्रभाव आप (जीव) का है? जी नहीं; यह सब तो नेत्र तथा चश्मा आदि की महिमा है। जब आपकी आँखें दोष-(रोग)-युक्त थीं, तब तो उनसे अच्छी तरह न दिखाई देता था। किंतु जब नेत्र अच्छे हो गये, तब ख़ूब दिखाई देने लगा था तथा चश्मे से तो और भी अधिक दिखाई देता था; फिर जब आपने दूर्बीन या ख़ुर्दबीन के द्वारा देखा था, तब तो आपकी दृष्टि में देखने की अपूर्व शक्ति आ गई थी।

प्यारे आत्मन्! अब आपको यह बतलाना होगा कि जब आपकी आँखों में देखने की शक्ति बढ़ती गई थी, तब क्या आप (जीव) भी बढ़ते गये थे? अथवा मोतियाबिन्द के हो जाने से आप घट गये थे?

उत्तर—जी नहीं। मैं तो ज्यों-का-त्योंही था। यह सब परिवर्तन तो नेत्रों में ही हुआ था। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि नेत्रों से कुछ भी न दिखाई दे, तो भी जीव की कुछ हानि न होगी। इससे इसका नाश या अभाव न हो जायगा।

इसी प्रकार मुझ निष्क्रिय चेतन को जब माया का दूर्बीन या ख़ुर्दबीन मिल जाता है, तब मैं सर्वज्ञ हो जाता हूँ और अविद्या के चश्मे को पाकर तो मुझमें अल्पज्ञता प्रतीत होने लगती है। वास्तव में मैं न तो सर्वज्ञ ही हूँ और न अल्पज्ञ ही। यह अल्पज्ञता और सर्वज्ञता तो अविद्या तथा माया के ही कारण हैं। माया के द्वारा मैं चेतन ही तो सर्वज्ञ ईश्वर हुआ हूँ। वह तो कलकत्ता तथा बम्बई के वर्तमानिक दृश्य को देख ही रहा है, फिर उसी की सर्वज्ञता को मानकर आप संतोष क्यों नहीं कर लेते? आप इस अविद्यामय शरीर-रूपी चश्मे से कलकत्ते या बम्बई की बातें देखने को क्यों कहते हैं?

वाह जी! किसी को एक साधारण कुल्हाड़ी देकर उससे कहा जाय कि तू इस चतुरंगिणी सेना से युद्ध कर। यह अन्याय नहीं तो और क्या है, भला यह, उससे कैसे हो

सकता है ?

एक समय किसी सज्जन ने नींबू के जल से कहा—भाई! तू खट्टा क्यों है ? तू ईख (गन्ना) के रस-सा मीठा क्यों नहीं लगता ?

उसने जवाब दिया—अजी महाशय! मैं खट्टा थोड़े ही हूँ, मेरा स्वाद तो वास्तव में प्राकृतिक मधुर है। यह जो मुझमें खट्टापन देखा जाता है, वह तो नींबू-रूपी उपाधि की है। अजी! इस उपाधि से मेरे असली गुण का नाश नहीं हो गया है; परन्तु वह इस नीबू में रहते हुए प्रतीत होगा कैसे। आप इस जगह मेरी मधुरता न पा सकेंगे। लेकिन आपको तो मेरी मधुरता से कुछ मतलब ही नहीं है, आप तो मिठास की खोज में हैं, अतएव जब आप पहले मुझे इस नींबू में से निकालकर, अर्थात् मुझमें से इस नींबू के खट्टेपन को अलग करके फिर मुझे ईख में भर दीजिये, तब आप देखेंगे कि मुझमें खूब मीठापन आगया है।

क्या उस ईख में पड़ने से सचमुच ही मैं मीठा हो जाऊँगा। हरगिज़ नहीं, वह मिठास तो केवल ईख-रूपी उपाधि से ही प्रतीत होगी।

महाशयजी ! असली बात तो यह है कि पहले मैं शुक्लवर्ण तथा मधुररस वाला एक ही था, परन्तु माली ने मुझे घड़ों से ले जाकर नानाप्रकार के वृक्षों की जड़ों में डाला, तब मैं उन वृक्षों की जड़ों के द्वारा उनकी हर-एक शाखा, डाली, पत्ते और फूल में भर गया। फिर कहना ही क्या है। अब तो मैं उन वृक्षों के रङ्गों एवं स्वादों के अनुरूप ही प्रतीत होने लगा। आपने मेरे असली रूप को न जानकर मुझ पर मिथ्या ही खट्टेपन का लांछन (कलंक) लगाया। यदि आपको मुझ पर दोषारोपण करना ही था, तो ईख की ही मिठास को मेरी मिठास क्यों नहीं मान ली, उसमें तो मैं ही भरा पड़ा हूँ।

मेरे प्रिय सच्चे स्वरूप ! आपका भी प्रश्न ठीक इन्हीं पूर्वोक्त महाशय की तरह है, जो नींबू के जल से मीठा होने के लिये कहते थे। आप मुझ निष्क्रिय तथा असंग-स्वरूप में अविद्या की कल्पना करके माया के धर्म-रूपी सर्वज्ञता को देखना चाहते हैं। भला यह कैसे हो सकता है ? हम वेदांती होकर अपने को सर्वज्ञतादि धर्मवाला माया विशिष्ट ईश्वर थोड़े ही कहते हैं ? हम लोग तो माया या अविद्या के सम्पूर्ण धर्मों से रहित, निर्गुण,

अव्यवहारी तथा अविकारी चैतन्यदेव को ही अपना स्वरूप मानते हैं, परन्तु आप लोग तो अपने को एक शरीर में ही व्यापक रहनेवाला जीव ही मानते हैं न ?

जी हाँ।

तब बताइये तो कि आपके शरीर में कितने रोएँ तथा कितनी नाड़ियाँ हैं, और आपके शरीर के अन्दर कहाँ पर क्या हो रहा है ?

अजी महाशय! यह सब तो न हम जान ही सकते हैं और न कह ही सकते हैं।

जिस प्रकार इस सब के न जानने से आपकी इस शरीर में व्यापकता के होने या जीवत्व के होने में रंच भी कमी नहीं आ जाती, उसी प्रकार 'कलकत्ते में या बम्बई में क्या हो रहा है' इसके न जानने से मेरी भी विश्व-व्यापकता तथा ईश्वरता में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ने पाता। फिर यह तो सभी जानते हैं कि अपने से भिन्न पदार्थ को ही जाना और बताया जाता है। जब जगत् और जगत् का घटनायें सब मैं ही हूँ; वे मुझसे भिन्न हैं ही नहीं, तथा आप और मैं भी एक ही वस्तु हूँ, तब मैं किसको जानूँ, और किसके लिये क्या कहूँ ?

प्रश्न—यदि आप पहाड़ से कूद जाँय, या अग्नि में प्रवेश कर जायँ, और आप न तो जलें ही अथवा न मरें ही, तब हम समझ जायें कि आप वस्तुतः अमर और अविकारी ब्रह्म हैं।

उत्तर—भाइयो! पहले यह तो बताओ कि मैं कहाँ नहीं हूँ, कहाँ से कहाँ पर कूद पड़ूँ। अरे! पहाड़ में तो मैं पहले ही से स्थित हूँ। मेरी ही व्यापकता से तो वह स्थित है। पृथिवी के भी अणु-अणु में मैं व्यापक हूँ और अग्नि भी मेरी ही सत्ता से धधक रही है। मैं केवल यह एक शरीर थोड़े हूँ कि इसके मरने या जलने से मेरा मरना अथवा जलना समझा जायगा। मेरे आत्म-समुद्र में तो शरीर की अनेक लहरें क्षण-क्षण में उठतीं और लय होती रहती हैं। इससे मेरा बिगड़ता ही क्या है। मेरा अन्त-स्थल तो सदा-सर्वदा अचल, शान्त एवम् एकरस ही रहता है। यह सब प्रपञ्च की लहरें तो अज्ञान-तूफ़ान के कारण ऊपर ही ऊपर दिखाई देती हैं। यदि आपको मरना या जलना देखना हो, तो ख़ूब देख लीजिए। संसार में बहुत से शरीर जल-मर रहे हैं, वे मुझसे वैसे ही पृथक नहीं हैं, जैसे समुद्र से तरंग अलग नहीं।

प्रश्न—यदि आप तत्त्व-वेत्ता ज्ञानी हैं, तो कोई करामात ऐसी दिखाइये, जिससे हमें आप में श्रद्धा और विश्वास हो।

उत्तर–अजी! करामत दिखाना तो ज्ञानियों का काम नहीं है। यह तो मदारियों का काम है। क्या आपने नहीं देखा? इन्द्रजाली लोग बहुत सी करामातें कर डालते हैं, तो क्या वे ज्ञानी कहलायँगे? वे तो बात की बात में बहुत से रजत-खण्ड (रुपये) बना डालते हैं, अपने पैर, शिर आदि अंगों को अपने हाथों से ही काट-काटकर अलग फेंक देते हैं, और फिर वैसे ही जोड़ भी देते हैं; क्षणमात्र में फूल-फल से लदे हुए बगीचे बनाकर तैयार कर देते हैं। कोई कोई तो बिना नौका के ही नदी को पार कर जाते हैं; कितने तो सन्दूक में बन्द हो और उसमें ताली लगवा लेने पर भी उसमें से फिर निकल आते हैं।

अब आप ही कहिये, कि क्या वे सब ज्ञानी हो गये? क्या ये तत्त्ववेत्ता माने जायँगे? क्या ये मुक्त कहे जायँगे? क्या इनके शोक-मोहादि विकार दूर हो गये हैं?

नहीं, नहीं, कभी नहीं। ये तो त्रिविध तापों से

तापमान हुए दर-दर भीख माँग रहे हैं। न तो कभी इनके पेट ही भरते हैं, न कभी इन्हें मनमाने वस्त्र ही मिलते हैं। ये विचारे जगह-जगह मारे-मारे फिरते हैं।

यदि कोई आकाश में उड़ने से सिद्ध हो जाय, तो विहंग पहिले सिद्ध कहलावें। यदि कोई मूर्च्छा या जड़-समाधि द्वारा जगत को विस्मरण करके चुपचाप जड़वत् हो जाने से ज्ञानी हो जाय, तब तो वृक्ष, पाषाणादि भी ज्ञानी हो जायँ। चूहा गुफा (बिल) में रहता है, मछली आदि जल-जन्तु हमेशा ही स्नान करते रहते हैं, अजगर वायु के ही आधार पर जीता है; बकरी, भेड़ इत्यादि जानवरों का पत्तों से ही निर्वाह हो जाता है, और गदहा तो रात-दिन धूल में ही लोटा करता है, तो क्या इन सब की मुक्तिहो जायगी? या ये जीवन्मुक्त, ज्ञानी अथवा सिद्ध माने जायँगे?

कभी नहीं। भाई! कोई वायु या पत्ते खाकर रहने से ज्ञानी नहीं हो सकता, और न देह में धूल, भस्मादि के लगाने अथवा रात-दिन गुफा में रहने या स्नान करने से ही मुक्त हो सकता है। ये सब तो बाहरी साधन हैं। कोई भी हठ करके यह सब कर सकता है, इनमें

कुछ विशेषता नहीं है। ज्ञान-वस्तु तो इनसे बिलकुल ही निराली है, अलौकिक है, वह तो अनेक जन्मों की सुकृति के उदय होने तथा सद्गुरु की कृपा से मिलती है। उसे कहीं जंगल या तीर्थ में अथवा किसी देश में नहीं ढूँढना पड़ता। वह ज्ञान तो अपने ही घट में है, अपने ही दिल में है, अपने ही अन्दर अपने ही आप है, अपना ही स्वरूप है। उसे केवल विवेक, वैराग्यादि के द्वारा तथा अभ्यास के ही द्वारा जाना और पहिचाना जाता है। उसके जान लेने पर ही शान्ति मिलती है, आराम-विश्राम मिलता है। उससे कृत-कृत्यता प्राप्त हो जाती है। उसका अनुभव कर लेनेवाला तो जीते-जी ही मुक्त हो जाता है। उसका जन्म-जन्मान्तर का शोक दूर हो जाता है। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष चाहे कुछ भी करामात न दिखा सके, संसार में उसकी प्रशंसा या इज़्ज़त भले ही न हो, कोई उसका नाम तक भी न जाने; परन्तु इसकी उसे कुछ परवाह नहीं, इससे उसकी कुछ भी क्षति नहीं। उसके हृदय में तो ब्रह्मानन्द का समुद्र उमड़ता रहता है और वह अपनी ख़ुदमस्ती के सामने किसी राजे-महाराजे के मान-सम्मान को भी कुछ नहीं समझता। उसके सामने इन्द्र भी बापुरा है, वह भी

कुछ नहीं है ?

वही पुरुष धन्य है, जिसने अपने स्वरूप की मस्ती प्राप्त कर ली है। उसी आत्मज्ञानी के चरण-कमल की रज से त्रिलोक पवित्र हो जाता है। उसकी ही कृपा-दृष्टि से अमृत की वर्षा होती है। उसकी ही वाणी सुधा से सनी निकलती है। उसके ही व्यवहार संसार को उद्विग्न नहीं करते। उसका कोई भी आचरण जीवों के लिये भयप्रद या दुःखद नहीं होता; बल्कि लोक के कल्याण के ही निमित्त होता है, आदर्श का होता है, और नमूने का होता है।

हे ज्ञानी ! हे धीर ! हे वीर ! तू धन्य है, धन्य है ! उस माता को धन्यवाद है, जिसने तुझे उत्पन्न किया; और बलिहारी है उस कुल को, जिसमें तू पैदा हुआ।

गीत—हे धीर-वीर ज्ञानी, सब विश्व का दुलारा।
लाखों प्रणाम तुझको, स्वीकार हो हमारा ॥ टेक ॥
कुल औ कुटुम्ब छोड़ा, रिश्ता तमाम तोड़ा।
मुख स्वर्ग-सुख से मोड़ा, जग से किया किनारा ॥१॥ ऐ०
आँखों में तेरी मस्ती, करती सदैव बस्ती।
उसकी अपार हस्ती, बरसे सुधा की धारा ॥२॥ ऐ०

डूबा रहे तु रैन-दिन, झूमा करे तु छिन-छिन ।
आये शरण में जिन-जिन, उनका सुदुःख टारा ॥३॥ ऐ०

पी प्रेम का पियाला, जीवन किया निहाला ।
वर्णन तेरा निराला, ऐ 'राम'-रूप प्यारा ! ४ ॥ ऐ०

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर (ग)

प्रश्न—बहुत से ऋषिओं और महर्षियों ने करामात दिखायी है, जैसे विश्वामित्र ने त्रिशङ्कु के लिये आकाश में सृष्टि की रचना कर दी थी । जिस समय विश्वामित्र से युद्ध छेड़ा था, उस समय वशिष्ठजी ने बहुत से शूर-वीर तथा अस्त्र-शस्त्र पैदा किये थे, इत्यादि-इत्यादि । ये सब कहानियाँ पुराणों में पायी जाती हैं, तब क्या वे सब महात्मा ज्ञानी थे या नहीं ?

उत्तर—क्यों नहीं, वे तो पूर्ण ज्ञानी थे, परन्तु उनके ज्ञानी होने में वे सब करामातें (सिद्धियाँ) हेतु रूप नहीं, अपितु उनका वह आत्म-ज्ञान ही हेतु था । हाँ, उनमें

सिद्धियाँ भी थीं; परन्तु वे तो तप तथा योग की महिमा से थीं। अब कलि की सिद्धियों में और उनमें बड़ा अन्तर है। अब के लोग शास्त्र-विरुद्ध तामसिक साधनों के द्वारा शरीर को कष्ट देकर ऊट-पटाँग करामातें दिखलाते हैं, परन्तु पहले के ऋषियों-महर्षियों ने तो शास्त्र-विहित सात्विक साधनों के द्वारा दैवी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। उन्होंने जो कुछ कर दिखाया था, वह आज-कल के विषयी-पामर जीवों से करोड़ों जन्मों में भी नहीं हो सकता। वे महात्मा उग्र तप किया करते थे, योग में तो बड़े ही प्रवीण थे। उनके तप के प्रभाव से वर और शाप भी फलीभूत हो जाते थे और जो-जो वे चाहते थे, वह सब योग-बल से—सिद्धियों के द्वारा—कर डालते थे; परन्तु सिद्धियों का भगवत्प्राप्ति में अथवा जीवन-मुक्ति के सुख में बाधक समझकर दूर से ही त्याग किये रहते थे; जहाँ बहुत आवश्यक समझते थे, वहीं जगत् के कल्याण के निमित्त उनका प्रयोग कर दिया करते थे।

प्रश्न—अजी महाशय! शास्त्रों में तो बहुत-से परस्पर विरोधी वाक्य मिलते हैं। उनसे बोध होना तो दूर रहा, बुद्धि और भी उलझन में पड़ जाती है।

देखिये न !—कहीं पर लिखा है कि 'परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त है', परन्तु 'उसमें कोई भी प्राणी नहीं है।' कहीं पर यह पाया जाता है कि 'वह ब्रह्म किसी में भी नहीं है', बल्कि 'सारा संसार उसी एक ब्रह्म में है।' कहीं पर तो ऐसा वर्णन पाया जाता है कि 'परमात्मा में जगत् है और जगत् में परमात्मा है।' कहीं पर यह भी लिखा है कि 'न तो परमेश्वर में जगत् है, और न जगत् में परमेश्वर ही है, इत्यादि-इत्यादि। भला, बताइये तो, क्या ये वाक्य परस्पर विरोधी नहीं हैं? इनसे क्या बुद्धि में मोह नहीं पैदा होता। यह सब उलझन ही नहीं है, तो और है क्या भाई? यह तो बड़ी जटिल समस्या है।

उत्तर—प्रिय जिज्ञासुओ! इन वाक्यों के पढ़ने या सुनने में उलझन तो अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु चित्त को एकाग्र करके विचारने पर इनमें कोई भी उलझन या जटिलता नहीं रह जाती।

भाई! यह विषय मनन करने का है, इसे ही अध्यात्म शास्त्र कहते हैं। वहिर्मुख वृत्तिवाले पुरुषों को तो यह अति गहन है। इसका समझना कठिन है; किन्तु जिन्होंने एकान्तसेवन, गुरु की सेवा, ईश्वर-भक्ति तथा शम, दम

आदि के द्वारा अपनी चित्त-वृत्तिको एकाग्र कर लिया है, बुद्धि को शुद्ध एवं सूक्ष्म कर लिया है; जो आध्यात्मिक विषय के श्रद्धालु, मननशील और विश्वासपात्र हैं, उनके लिये तो इन वाक्यों में कोई भी विरोध का विषय नहीं है। उनके लिये तो ये वाक्य मोह तथा भ्रम के नाशक एवं आनन्दप्रद हैं। सचमुच उन्हें इन वाक्यों के विचार से बड़ी शान्ति मिलती है।

अब आप लोग इन वाक्यों के रहस्य को ध्यान देकर सुनें। मेरे वचनों को सुनें, और सुनकर उन पर विचार करें। इससे आप लोगों का बड़ा कल्याण होगा; आपको सच्चा सुख मिलेगा।

प्यारे पाठक! याद रखना होगा कि पूर्वोक्त वाक्य दो प्रकार से कहे गये हैं, एक तो अज्ञान की दृष्टि से और दूसरे ज्ञान की दृष्टि से।

जो यह कहा गया है कि परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त है, इसका तात्पर्य यह है—अज्ञानियों की अज्ञान-दृष्टि से जो यह सब प्राणी–नाम–रूपात्मक जगत् में–बने हैं, सत्य-से प्रतीत हो रहे हैं। उनमें एक परमात्मा ही अपने

सत्‌रूप से व्याप्त है। यही कारण है कि यह सब भूत-प्राणी मिथ्या होते हुए भी सत्‌रूप-से प्रतीत हो रहे हैं।

यदि मिथ्या कुण्डल, कंकणादि के आकार-प्रकार में एक सत्य स्वर्ण न रहे, तो उन भूषणों की प्रतीति ही क्योंकर हो? भला, मिट्टी के बिना क्या घट रह भी सकता है? मिथ्या फेन, बुद्‌बुद, तरंगादि में एक सद्रूप जल ही तो भरा रहता है? उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड एक सत्य ब्रह्म से ही परिपूर्ण हो रहा है!

जो यह कहा गया है कि 'उस परमात्मा में कोई भी प्राणी नहीं है, उसका मतलब यह है—

यदि अच्छी प्रकार ज्ञान-दृष्टि से देखा जाय, तो उस ब्रह्म में जगत् है ही नहीं? जैसे एक रस्सी का ज्ञान हो जाने के बाद उसमें भी भ्रान्ति-जन्य विकराल सर्प नहीं रह जाता, अथवा सूर्य की किरणों का ज्ञान होते ही उन से प्रतीत होनेवाला जलाशय न मालूम कहाँ चला जाता है। या जैसे नींद के टूटते ही स्वप्न-प्रपञ्च का बिल्कुल अभाव हो जाता है; वैसे ही जब ब्रह्मज्ञान-द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उस ब्रह्म की सृष्टि की वास्तविकता रह ही नहीं जाती। यह प्रपञ्च जब सत्य हो, तब तो

परमात्मा में रहे। चूंकि इसे तो माया ने झूठ-मूठ ही उस ब्रह्म में रच डाला है, अतएव कहा गया है कि 'परमात्मा में जगत् नहीं है।'

जहाँ पर यह कहा गया है कि 'वह ब्रह्म किसीमें भी नहीं है', इसका रहस्य यह है। अज्ञानी जिस नामरूपात्मक जगत् को अपनी अज्ञान-दृष्टि से, इन्द्रिय-विकार से, सत्य-सा देख रहे हैं, उस जगत् में ही क्या उस ब्रह्म की व्यापकता समाप्त हो जाती है? जी नहीं, कदापि नहीं, वह तो अनन्त तथा अखण्ड है। अनन्त तथा अखण्ड वस्तु सीमित कैसे की जा सकती है? उसको किसी पदार्थ के अन्दर बन्द कैसे कर सकते हैं?

भाई, यह सारी सृष्टि तो माया की रची हुई है, और माया उस अनन्त के किसी अंश में वैसे ही है, जैसे आकाश के किसी अंश में नीलिमा प्रतीत होती है। चूंकि उस माया के किसी एक हिस्से में यह सारी दुनिया निवास करती है, इसलिये वह अखण्ड ब्रह्म केवल इस जगत् के अन्दर ही बन्द नहीं हो सकता। अतएव यह कहा गया है कि 'वह ब्रह्म किसी में भी नहीं है।' अथवा आकाशवत् असंगत था। निरीह होने से भी उस ब्रह्म के

विषय में ऐसा कहा गया है। व्यवहार में भी यह बात पायी जाती है; जैसे, जब कोई पुरुष किसी समाज में रहकर भी उस समाज से प्रेम नहीं रखता, उससे उदासीन या अनासक्त रहता है, तब उसके लिये यह कहा जाता है कि भाई, इस समाज से तो यह कुछ मतलब ही नहीं रखते, मानों इसमें यह है ही नहीं; इनका रहना और न रहना, दोनों बराबर है।

अब जो यह कहा गया है कि 'सारा संसार उसी एक ब्रह्म में है,' उसका आशय यह है कि जब मरुस्थल में सूर्य की किरणें गिरती हैं, तब वहाँ मृगों के लिये जल की बाढ़ आ जाती है, तब क्या वह मृगजल सूर्य की किरणों ही में नहीं रहता है? जब रात को हमें रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है, तब वह भ्रान्ति का अजगर एक रस्सी ही में तो रहता है। उसी प्रकार यह नामरूपात्मक जगत् अज्ञ पुरुषों को एक ब्रह्म में ही दिखायी देता है।

'परमात्मा में जगत् और जगत् में परमात्मा' को तो उसी प्रकार समझना चाहिये, जिस प्रकार जल में तरंग और तरंग में जल रहता है; अर्थात् जैसे, तरंग वायु के

कारण जल में ही उठता है, वह तो कहीं अन्यत्र उठ ही नहीं सकता। और यदि विचार करके देखा जाय, तो उस तरंग में एक जल-ही-जल भरा रहता है, अर्थात् वह तरंग जल से भिन्न होता ही नहीं। वायु से उछलने के कारण उस जल का ही नाम तरंग पड़ जाता है। वैसे ही एक परमात्मा में माया के द्वारा जगत् बन जाता है, यह विचार करने से पता चलता है। चूँकि जगत् में ब्रह्म अपने अस्ति भाति और प्रिय रूप से भरा पड़ा है, इसलिये यह ठीक ही है कि 'परमात्मा में जगत् और जगत् में परमात्मा है।'

जो कहीं पर यह पाया जाता है कि 'न तो परमेश्वर में जगत् है और न जगत् में परमेश्वर है।' इसका भाव यह समझना चाहिये कि जब 'अजातवाद' के अनुसार बन्ध्या-पुत्र के समान या शश-शृंग के सदृश अथवा कछुवा के दूध की तरह प्रपञ्च है ही नहीं, एकदम मिथ्या ही है, तब ब्रह्म की व्यापकता किसमें हो ?

जहाँ दो वस्तु हों, वहाँ ही एक व्याप्य और दूसरी व्यापक हो सकती है। एक ही अद्वितीय चेतन में तो व्याप्य-व्यापक भाव बन ही नहीं सकता। इसलिये कहा

है कि 'न तो परमेश्वर जगत् में और न जगत् परमेश्वर में है।' यह वार्ता समाधि-अवस्था की अपेक्षा कही गयी है।

प्रश्न—जिस पुरुष को ऐसा हो जायगा कि 'यह अखिल विश्व ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ; जीव, जगत् और ईश्वर, इनका वास्तविक भेद नहीं है, बल्कि ये सब परमात्ममय हैं', तो उस पुरुष से व्यवहार कैसे हो सकेगा ? जब कि एक ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ रह ही नहीं जयगा, तब वह ज्ञानी पुरुष किससे बोलेगा ? कहाँ चलेगा ? क्या खायगा ? इत्यादि सब व्यवहार ही समाप्त हो जायँगे।

उत्तर—नहीं भाई, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान हो जाने पर भी, अपने सहित जगत् को ब्रह्ममय जान लेने पर भी, व्यवहार वैसे ही नहीं रुक सकता, जैसे नौकारूढ़ पुरुष की बुद्धि में यह आ जाने पर भी कि 'दरिया के किनारे के वृक्ष चलते नहीं हैं, अपितु ये अचल हैं,' उन वृक्षों के चलने की प्रतीति तो तबतक बराबर जारी ही रहती है, जबतक नौका का चलना बन्द नहीं हो जाता। जिस प्रकार इस पृथिवी-तल से दूरस्थ ताराओं को स्थित

देखने पर भी गणित-शास्त्र के अनुसार उनका चलना नहीं रुक जाता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को खाने-पीने, चलने-फिरने आदि व्यवहारों में देखते हुए भी उनकी अचलता में, अद्वैत की स्थिति में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता।

अजी! ज्ञानी की दृष्टि में, उसके निश्चय में, उसकी बुद्धि में तो यह सब व्यवहार मिथ्या ही है, फिर मिथ्या की प्रतीति किसी रूप से हुआ करे, मिथ्या तो मिथ्या ही रहेगा। रेलगाड़ी पर चढ़ने से सड़क के वृक्ष भले ही चलते हुए दिखायी दें, परन्तु वे तो स्थिर ही रहेंगे। उन्हें न तो हम चलते हुए मानेंगे और न वे हमारे देखने से चलने ही लगेंगे। क्योंकि व्यवहार को केवल मिथ्या समझ कर उनमें की आसक्ति का त्याग कर देना ही मोक्ष है, और व्यवहार को सत्य समझकर उसमें आसक्त होना ही बन्धन है। इसलिये व्यवहार के होते हुए भी उसको मिथ्या जानकर उसमें आसक्ति-रहित होने से ज्ञानी मुक्त हैं।

जैसे इन्द्रजाली अपने बनावटी रूप तथा व्यवहारों (तमाशा) को नक़ली (मिथ्या) जानते हुए भी वह नाना प्रकार का व्यवहार (खेल) करता ही है और उसके

नक़ली करामातों को देखकर जनता हर्ष तथा शोक को भी प्राप्त होने लगती है। परन्तु वह मदारी तो उन खेलों से उदासीन—रागद्वेष-रहित—रहता है; क्योंकि वह उनके असलियत को भली भाँति जानता रहता है। उसी प्रकार ज्ञानी के प्रारब्ध-बल से उनका जो नक़ली नर-तन मिला है और उस शरीर से जो व्यवहार होते रहते हैं, उनको वे झूठे जानते रहते हैं। उनसे तो वे अपने को एकदम अलग मानते हैं। अतएव व्यवहार से उसकी कोई क्षति नहीं।

पूर्वकाल के ऋषि मुनि भी वेदान्त-रहस्य के ज्ञाता थे। वे भी तो अपने रूप में स्थित थे? वे लोग भी तो जीवन्मुक्त होकर अद्वैत ज्ञान में विचरते ही थे। तो क्या उनका शारीरिक व्यवहार रुक गया था? क्या वे खाते-पीते, बोलते-चालते, सोचते-विचारते, पढ़ते पढ़ाते न थे?

यदि अद्वैत-ज्ञान से व्यवहार रुक जाता, तो अद्वैताचार्य श्रीमच्छङ्कराचार्यजी ने क्यों व्यावहारिक कार्यों को किये?

अजी! श्रुति-शास्त्र में पारंगत, अद्वैत-सिद्धान्त के स्थापन एवं द्वैत-मत खंडन में दक्ष, परम ब्रह्मनिष्ठ, शंकर

के अवतार भगवान शंकराचार्य को कौन नहीं जानता है ? उस दिव्य-सूर्य की रोशनी ने जिस समय दुनिया के कोने-कोने में अपना प्रकाश डाल दिया था, उस समय नास्तिक-उल्लूकों की आँखें फूटने लग गई थीं, अविद्या-रजनी भाग चली थी, द्वैतवाद के तारे मलिन पड़ गये थे, अद्वैतोपासक-कमल खिल उठे थे। कहाँ तक कहा जाय, उस समय तो 'अहं ब्रह्मास्मि' की गुञ्जार भारत के कोने-कोने में वैसी ही फैली हुई थी, जैसे सुबह के समय पुष्प-वाटिका में भौंरों की ध्वनि गूँज उठती है। उस समय तो चारोंओर एक शंकर-ही-शंकर दिखाई देते थे। उनकी ही जय-जयकार मची हुई थी।

अजी ! उन महात्मा ने तो नास्तिकों के माया-जाल का उच्छेद कर डाला था। उनके वाग्जालों से संसार को बचाया था, भारतवर्ष में पैदल-ही-पैदल भ्रमण-करके ग़ाफ़िल जीवों को चेताया था; वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना की थी, उपनिषद्, गीता, और ब्रह्म-सूत्र अर्थात् प्रस्थान-त्रयी—ब्रह्म के पास प्रस्थान करने के तीन रास्ते—पर भाष्य किये थे। उन्होंने वेदों पर भाष्य किये तथा वेदांत-प्रचार द्वारा जीवों के कल्याणार्थ और भी बहुत-से

ग्रन्थों का निर्माण किया था, इत्यादि-इत्यादि।

प्रश्न—जब वेदांत-सिद्धांत के अनुसार यह अखिल कारण—कार्यमय व्यावहारिक प्रपञ्च—अज्ञान से ही बना है, अर्थात् इस जगत् का उपादान कारण अज्ञान ही है, तब आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान के नाश हो जाने पर फिर संसार की प्रतीति क्यों होती है? अथवा शरीर ही क्यों रहता है? यह भी तो अज्ञान का एक कार्य ही है? भला, कारण के नाश हो जाने पर कार्य को रहना चाहिये?

उत्तर—भाइयो! अज्ञान का कार्य जो भ्रम है, वह दो प्रकार का होता है—एक निरुपाधिक भ्रम और दूसरा सोपाधिक। रस्सी के अज्ञान से जो रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है, वह तो निरुपाधिक भ्रम है, और जब लाल पुष्प पर रक्खी हुई स्फटिक मणि में पुष्प की लालिमा दिखाई देती है, तब क्या मालूम होता है कि इस मणि में लाल फूल ही है, अथवा किसी जलाशय में अपनी छाया देखकर जो यह भान होता है कि नीचे को शिर और ऊपर को पैर हैं, सो सोपाधिक भ्रम है।

जहाँ पर निरुपाधिक भ्रम होता है, वहाँ पर तो

असली वस्तु के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उस भ्रम—कल्पित पदार्थ—का बिलकुल अभाव हो जाता है; जैसे, रस्सी के ज्ञान हो जाने पर सर्प का पता नहीं लगता कि वह कहाँ चला गया? परन्तु सोपाधिक भ्रम का तो ज्ञान हो जाने पर भी तबतक अभाव नहीं होता, जबतक कि वह उपाधि बनी रहती है। जैसे, यह जान लेने पर भी कि—'अरे! इस पत्थर में तो पुष्प नहीं है, बल्कि यह तो नीचे रखे हुए उस फूल की दमक है, वैसे इस जलाशय में भी सच्चा मनुष्य है ही कहाँ? यह तो मेरे शरीर की छाया है।' तबतक तो स्फटिक में पुष्प तथा जल में अपने शरीर की प्रतीति बनी ही रहती है, जबतक वहाँ पर मणि और जलाशय मौजूद रहते हैं। परन्तु क्या अब उस देखनेवाले के हृदय में उस प्रतिबिम्बित पुष्प की लालच अथवा पुरुष में प्रेम हो सकता है? या उस प्रतिबिम्बित पुरुष को इस तरह बेक़दर डूबते हुए देखकर अपने को डूबा हुआ माना जा सकता है? क्या हृदय में डर उत्पन्न हो सकता है?

कदापि नहीं; क्योंकि वे पुष्प और पुरुष तो मिथ्या जान लिये गये हैं, इसलिये उनमें अब आसक्ति नहीं रह

गई है। वे भले ही प्रतीत होते रहें, उनसे मतलब क्या ?

पूर्वविवेचन से यह सिद्ध हो चुका कि जहाँ पर सोपाधिक भ्रम होता है, वहाँ पर असली वस्तु के ज्ञान हो जाने पर भी उस कल्पित—अज्ञानजन्य—पदार्थ का तबतक एकदम अभाव नहीं हो जाता, जबतक वहाँ उपाधि बनी रहती है।

मेरे प्रिय आत्मन! यह जगत् भी एक सोपाधिक भ्रम ही है। जैसे, पूर्व के दृष्टान्त में उस पुष्प का अज्ञान और मणिरूप उपाधि, इन दोनों की वजह से मणि में पुष्प की भाँति तथा अपने शरीर का अज्ञान और जलाशय-रूप उपाधि, इन दोनों के कारण जल में उलटे डूबते हुए पुरुष की प्रतीति कही गई है। वैसे ही यह जगत् भी अपने नित्यमुक्त सच्चिदानन्द-स्वरूप के अज्ञान और पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मरूप उपाधि, इन दोनों से बना है। जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब तो पहला कारण अज्ञान बिल्कुल नष्ट हो जाता है। अतः जगत मिथ्या प्रतीत होने लगता है। तब इसका अस्तित्व, इसकी असलियत बिल्कुल नहीं रह जाती। यह तो पहले ही से विलक्षण दीखने लगता है; परन्तु इसका

दूसरा कारण प्रारब्धकर्म-रूप उपाधि तो तबतक रह ही जाती है, जबतक वह अपना पूरा भोग नहीं भोग लेती। चूँकि ईश्वर का ऐसा सङ्कल्प है कि 'प्रारब्धकर्म अपना भोग देकर ही नष्ट हों।' भला, ईश्वर के सत्य-सङ्कल्प को कौन टाल सकता है ? इसलिये दूसरा कारण—प्रारब्ध—अपना कार्य—केवल जगत् की प्रतीति जारी रखता है

जगत् को मिथ्या समझ लेने पर भी जब तक प्रारब्धकर्म की उपाधि रहती है, तबतक तो इसकी प्रतीति बनी ही रहती है। वह प्रारब्धकर्म ही ज्ञानी के अन्तःकरण को हरएक व्यवहार में प्रेरित किया करता है। उसी की प्रेरणा को ईश्वर की प्रेरणा कही जाती है। कारण यह है कि कर्मों का कर्ता एकमात्र विज्ञानमय ही है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को ही विज्ञानमय कहते हैं और उस बुद्धि का अधिष्ठान वह ईश्वर ही है। ईश्वर बुद्धि का अधिष्ठान होकर अर्थात् उसमें व्याप्त होकर कूटस्थ या साक्षी कहलाता है। क्योंकि वह प्रारब्धकर्म से संस्कारित बुद्धि जड़ होने कारण कोई भी कार्य स्वतः नहीं कर सकती, इसलिये उस कूटस्थ के

रूप में ईश्वर की सत्ता एवं चैतन्यता ही से उस बुद्धि-विज्ञानमय-में प्रारब्धानुसार चेष्टाएँ होती रहती हैं, और उन चेष्टाओं से प्रेरित हुआ स्थूल शरीर कर्म करता रहता है।

अजी! शरीर के उन कर्मों से तो ज्ञानी पुरुष बिल्कुल उदासीन रहता है। उसकी तबीयत नहीं चाहती कि मैं अमुक-अमुक कृतकार्यों को करूँ। महान् उपदेशक बन जाऊँ, विद्वान् हो जाऊँ, जगत् में ख्याति फैले, मेरी प्रतिष्ठा हो, इत्यादि वासनाओं से वह निराला रहता है। वह तो अपने आनन्द-स्वरूप में नित्य-निरन्तर निमग्न रहता है। उसका अन्तःकरण, इन्द्रिय तथा शरीरादि प्रारब्धानुसार कर्मों में प्रवृत्त या उनसे निवृत्त होते रहते हैं। वह तो उसकी कुछ परवाह ही नहीं रखता। वह तो जैसा कुछ भोग प्राप्त होता है, उसी में उतने ही में तृप्त हो जाता है। न तो वह अधिक भोगों की इच्छा करता है और न उनके लिये यत्न ही करता है।

अजी! वह तो अंतःकरण में व्यर्थ मनोरथों का जाल रचता ही नहीं। वह तो बस प्रारब्धगत की प्रतीक्षा करता हुआ शान्त रहता है। जब कि वह तत्त्ववेत्ता पुरुष

अखिल विश्व को मिथ्या जानकर किसी भी पदार्थ में आसक्त ही नहीं होता, तब उसके लिये अब अगले जन्म के लिए कोई भी कर्मों का संस्कार बनेगा ही कैसे ? अपना भोग भोगाने के लिये कोई भी पुण्य अथवा पाप उसके हृदय में अपना अड्डा जमा ही कैसे लेगा ? क्योंकि पुण्य-पाप तो आसक्ति या वासना से ही बना करते हैं ।

जब कि तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में एक आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या ही है, तब उस विद्वान् के व्यवहार से क्षति क्योंकर हो सकती है ? उससे उसकी अद्वैतता कैसे नष्ट हो सकती है ?

प्रिय पाठक-वृन्द ! विचार करें, क्या कुण्डल, कंकणादि अनेक भूषणों के बन जाने से सोने में अनेकता आ जाती है ? क्या उसकी एकता का भंग होकर सचमुच ही कुण्डलादि भूषण उससे पृथक् हो जाते हैं ? अथवा ओला, बर्फ़, तरंग, बुदबुदा आदि के बनने से क्या जल में वास्तविक विभिन्नता आ जाती है ?

जी नहीं, वे कुण्डलादि भूषण तथा ओला आदि पदार्थ, स्वर्ण तथा जल से भिन्न नहीं हो जाते; क्योंकि

वे कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं रहते। वे तो हमारे रचे हुए होते हैं। हम लोग तो उस स्वर्ण या जल में झूठ-मूठ ही कल्पना करके अनेकों नाम रख देते हैं। जब हम यह समझ गये कि उन कुण्डलादि आभूषणों के रूप में एक स्वर्ण ही है और ओला, तरंगादि भी जल से भिन्न नहीं हैं, तब वे सब अपने-अपने आकार-प्रकार—नाम-रूप—से बने रहें, हमें कोई हानि नहीं। अब हमें उनकी असलियत को जानने के लिये उनको गलाना या बिगाड़ना नहीं पड़ेगा। वे किसी हालत में रहें; हम तो उनको बिना तोड़े-फोड़े ही, बिना नष्ट किये ही, सोना और पानी जानेंगे।

प्रिय श्रोतागण! ठीक इसी तरह जब तत्त्ववेत्ता पुरुष यह जान जाता है कि यह सब प्रपंच एक ही अद्वितीय ब्रह्म में कल्पित है, इसलिये इसकी ब्रह्म से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अपितु एक ब्रह्म ही अनेक नाम-रूप के रूप में दिखाई देता है, तब वह इस जगत् का नाश या अभाव नहीं चाहता। वह इसका अभाव चाहने ही क्यों लगे? किसी के चाहने से इसका अभाव थोड़े ही होने का। यह तो ईश्वर के सत्य संकल्प

से रचा गया है।

अजी! यह जगत् भले ही बना रहे, इससे उस तत्त्ववेत्ता पुरुष की धारणा में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ने का। उसकी तो वह अद्वैतता ज्यों-की-त्यों बनी ही रहेगी। वह पुरुष जीते-जी तो जीवन्मुक्त होकर ब्रह्मानन्द और मस्ती का आनन्द लूटता रहता है और शरीर के छूट जाने पर विदेह (मुक्त) हो जाता है।

भाई! अद्वैत-तत्त्व का ज्ञान बड़ा गहन है। यह राजा-रानी की कहानी तो है ही नहीं कि मुफ्त ही में समझ में आ जायगा! अजी! यहाँ तो बुद्धि का घोड़ा नहीं दौड़ाया जा सकता, यहाँ तर्क की दाल नहीं गल सकती, मन और वाणी को पहले ही जवाब मिलता है कि 'जाओ पीछे हटो!' यह आध्यात्मिक विषय तो श्रद्धा-गम्य है, विश्वास तथा अनुभव से जाना जाता है। जब आप विवेक, वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न होकर, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर, उन्हें लाठी की तरह साष्टाङ्ग प्रणाम करेंगे और फिर अपने उद्धार के लिये उनसे विनम्र निवेदन करेंगे, तब वे प्रसन्न होकर, आप पर कृपा करके, ब्रह्मतत्त्व का उपदेश देंगे। पुनः उनके

उपदेशों के विचार से, उनके वचनों के मनन से, आपके हृदय में अनुभव का नेत्र फूट निकलेगा और उससे अद्वैत-सूर्य जगमगा उठेगा। फिर कहना ही क्या है? तब तो अविद्या-रजनी का तरुण तिमिर नष्ट हो जायगा, राग-द्वेषादि उलूक छिप जायँगे, सारी शंकाओं की निशचारियाँ भाग चलेंगी, तर्क के कुहरे, बर्फ़ आदि तो नष्ट ही हो जायँगे; संशय, शोक, मोहादि पिशाचों का पता ही नहीं लगेगा। इसलिये भाइयो! अद्वैत-तत्त्व में श्रद्धा कीजिये, विश्वास रखिये, निष्ठा बढ़ाइये। इसमें तर्क न कीजिये, संदेह करने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

यदि आप इस अद्वैत-सिद्धान्त का सहर्ष और सप्रेम आदर नहीं करेंगे, तो अविद्या के आँच से (ताप से) हरगिज़ नहीं बच सकेंगे। संशय का प्रेत तो कभी पीछा छोड़ने ही का नहीं। आप तो हमेशा 'क्यों?' और 'कैसे?' के फेर में पड़े ही रहेंगे; आप विश्राम के भूखे तथा शान्ति के प्यासे रह जायँगे। आप मेरे इन वचनों को सत्य मानिये, यही श्रुति की टेर है, यही महात्माओं का सिद्धान्त है। आइये, सद्गुरु के शरण में चलने के पहले हम लोग ज़रा गुरु-महिमा का गान तो कर लें।

गुरु-मूरति रवि-उदय-सम, करति मोह-तम-नाश।
ज्ञान-किरण उर में बढ़े, शुभगुण-कमल-विकाश।
शुभगुण-कमल-विकाश, पाप-राजनिश्चर जावैं।
चक्रवाक - सुख - शान्ति, दोउ इक ठाँव मिलावैं।
शुक,सारिक, पिक आदि, भक्तगण गावहिं कीरति।
भुक्ति-मुक्ति की दातृ, 'राम' महिमा गुरु-मूरति ॥१॥

गुरु-भक्ती-शशि-चन्द्रिका, वसी हृदय-नभ माँहिं।
कमल-निकर कामादि खल, दलित-गलित सकुचाहिं।
दलित-गलित सकुचाहिं, शान्ति की कोईं हुलसैं।
खेह - अविद्या जाय, ताप त्रय शीघ्रहिं विनसैं।
सेवक - नयन - चकोर, 'राम' निशि-दिन अनुरक्ती।
ज्ञान - सिन्धु हुलसाय, पाइ हिमकर गुरु-भक्ती ॥२॥

प्रश्न—अजी! आप वेदान्ती तो सर्वदा यही कहा करते हैं कि 'आत्मा मन, वाणी तथा शरीर से परे है, वह तो निराकार है, नाम-रूप से रहित है, अनिर्देश्य है;' तो यह तो बतलाइये कि उसको जाना कैसे जाय? उसकी प्राप्ति क्योंकर हो? भला, जब उसके नाम-रूप, आकारादि हैं ही नहीं, तब तो वह कुछ चीज़ ही नहीं हो सकता,

तब तो वह केवल कल्पना-मात्र मिथ्या ही कहा जा सकता है।

उत्तर—नहीं, भाई! ऐसी बात नहीं है। आप घबड़ाइये मत, हमारे वचनों पर किंचित् ध्यान दीजिये! आत्मा का कोई नाम भले ही न हो, रूप से भी वह भले ही रहित हो, मन और वाणी का भी विषय भले ही न हो सके, परन्तु उसके अस्तित्व में तो वट्टा लग ही नहीं सकता। उसकी उपासना तो हो ही जायगी, वह अनुभूत हुए विना तो रह ही न जायगा। उसकी प्राप्ति, उसकी पहचान तो अवश्य ही हो जायगी और उसकी उपासना में भी किंचित् अन्तर न पड़ सकेगा। अरे भाई! आप उसकी उपासना इस प्रकार क्यों नहीं करते कि—'मैं आत्मा हूँ, यह अस्थि, मांसादि का समूह-रूप स्थूल शरीर नहीं हूँ, भूतों के कार्य रूप ये अनेक इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। मैं तो मन और बुद्धि से परे हूँ साक्षी-स्वरूप हूँ, मुझ सद्रूप में ये मिथ्या माया और माया-जनित प्रपञ्च नहीं हैं।' इस प्रकार का चिन्तन ही तो आत्मा की उपासना कहलाती है; इसीको उसका ध्यान कहते हैं। उस आत्मा के नाम-रूप भले ही न दिखलायी

पड़े, परन्तु जिस दिन यह विश्वास हो जायगा, विश्वास ही नहीं, वल्कि ऐसा अनुभव हो जायगा कि यह जगत मिथ्या है और मैं शरीर से भिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ; बस, उसी दिन, उसी समय आप मुक्त हो जायँगे। इसी को आत्मज्ञान कहते हैं, यही आत्मा की पहचान है। इसी अवस्था में पहुँच कर पुरुप तत्त्ववेत्ता कहलाने लगता है।

अजी! वह तत्त्ववित् तो इन्द्रियों के व्यापारों को भूलकर भी अपना नहीं मानता, जैसे दीपक के प्रकाश से प्राणी नाना प्रकार के व्यवहार करते हैं। कोई नाचता है, कोई बजाता है, कोई खाता है, तो कोई पीता है। इसी प्रकार लिखना, पढ़ना, सीना, बुनना आदि कार्य होते रहते हैं; फिर वहाँ से कार्यकर्ता चले भी जाते हैं; परन्तु दीपक को तो कुछ खबर ही नहीं रहती कि हमारे प्रकाश से कौन-कौन कार्य हो रहे हैं? न तो वह कार्य करनेवालों पर कार्य करने के समय प्रसन्न होता है और न वन्द कर देने पर दुखी ही होता है, अपितु वह तो कार्य के होने और न होने के समयमें भी ज्यों-का-त्यों ही अपने प्रकाश से प्रकाशित रहता है, उसमें ज़रा भी न्यूनाधिकपन नहीं आती। ठीक यही दशा तत्त्ववेत्ता की

भी होती है। उसके मन, वाणी और शरीर से जगत् के लाखों उपकार हो जायँ, वह प्रफुल्लित नहीं होता; अथवा किसी प्रारब्धादि के कारण अपकार ही क्यों न हो जायँ, उसको कुछ परवाह नहीं होती। उससे उसमें रंच भी खिन्नता नहीं आने की; क्योंकि वह अपने में कोई भी कृत्य नहीं देखता। वह तो पाप-पुण्य का साक्षीमात्र रहता है।

कब कार्य मुझसे क्या हुआ, क्या तत्वविद् यह जानता ?
देहेन्द्रियों के कर्म को, क्या भूलकर निज मानता ?
जब चन्द्रमणि होती द्रवित, अरु सिन्धु-लहरें हैं उमड़तीं।
उर-प्रीति पपिहा के सरसती, क्या चन्द्रमा वह जानता ? १ ॥कब०
भानु को लखि कमल खिलते, चक्रवाक रु हुलसते।
निकले अग्नि रवि-उपल ते, तो क्या दिवाकर जानता ? २॥क०
ऋतुराज के आगमन से, वन बीच हरियाली बसे।
फल-फूल वृक्षों में लसें, ऋतु ईश क्या सब जानता ? ३॥क०
आकाश के अवकाश से, जग-काज होहिं सुपास से।
रहता पवन भी आश से, तो 'राम' नभ क्या जानता ? ४॥क०
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ कारोपासना

प्रिय मुमुक्षु-वृन्द! पहले आप सब ही ॐकार देव को नमस्कार करें! अजी! यह ॐकार अपने शरणागत भक्तों की सर्वदा रक्षा करता है। इस महामंत्र के जापक (उपासक) की दुर्गति कभी भी नहीं होती। इस प्रणव की ही महिमा का वर्णन करने के लिये श्रुति शास्त्र तत्पर हुए हैं; सर्वत्र इसकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। शेष, शारदा, ऋषि-मुनि आदि सभी इसके ही अवलम्बन से प्रतिष्ठित हैं। वे दोनों डंके की चोट से, एक स्वर से, एकमात्र इसी को भुक्ति-मुक्ति का दाता बताते हैं। इसी मंत्र को गयात्री कहते हैं। आप जानते हैं कि गायत्री शब्द का क्या अर्थ होता है! 'जो गाने से, जप करने से, उपासना करने से, त्रिविधि तापों से रक्षा करे, उसका नाम है 'गायत्री'।' एक मात्र यह ॐ कार ही जीवों के तीन तापों का नाश करनेवाला है। अजी! यह तो संसार-सागर से तरने के लिये बड़ी भारी नौका है, इसीसे तो यह 'तारक' नाम से प्रसिद्ध है।

अहा हा!!! इस ॐकार की मधुर ध्वनि में कितनी

मोहकता है ! इसके उच्चारण तथा श्रवण से ही शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों में आनन्द का संचार होने लगता है, ॐ ! ॐ !! ॐ !!! मारे प्रसन्नता के हृदय-कमल प्रफुल्लित हो उठता है, शरीर के सारे हिस्से फड़फड़ा उठते हैं। मारे विह्वलता के रोमांच होने लगता है, आँखों से तो प्रेमाश्रु बह निकलता है। भाई, सचमुच कोई भी ऐसा प्रभावशाली मंत्र न होगा। अरे! यह मन को वश करने में संगीत से भी बढ़कर काम करता है; भव-रुज से ग्रसित प्राणियों के लिये यह महौषधि है। क्या इसकी महिमा का अन्त हो सकता है। भाई कोई माने या न माने, परन्तु मैं तो अपना अनुभव कह रहा हूँ। मेरे लिये तो यह महामंत्र बड़ा ही उपयोगी हुआ है।

प्रिय जिज्ञासु-गण ! आपको मैं विश्वास दिलाता हूँ कि आपका इससे बड़ा कल्याण होगा। पहले आप इस मंत्र पर श्रद्धा तथा विश्वास कीजिये, फिर इसको सर्वदा के लिये अपना लीजिये, इसे अपना इष्टदेव समझ लीजिये, तब देखिये इसका आनन्द। जब संसारिक तापों से चित्त व्याकुल हो उठे, किसी काम में मन न लगे, उद्विग्नता प्राप्त हो जाय, अथवा इन्द्रियाँ चंचल हो उठें,

तब एकान्त में चले जाइये और मधुर स्वर से, खूब ज़ोर से ॐ ! ॐ !! ॐ !!! इस प्रकार की बार-बार आवाज़ कीजिये। तब आप देखेंगे कि आपका चित्त शांत हो जायगा, इन्द्रियाँ स्वाधीन हो जायँगी, आपकी बेचैनी जाती रहेगी, हृदय प्रफुल्लित हो जायगा, मन प्रसन्न हो जायगा, आपको शान्ति मिल जायगी।

यदि आप इस महामंत्र का चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, सदा-सर्वदा चिन्तन किया करें, तब तो कहना ही क्या है ! यह मन:पिशाच शीघ्र ही अपने वश में हो जायगा, यह तो अविद्या-रजनी में विषयों का आखेट कभी भी नहीं करेगा, वरन् यह अपनी पैशाचिक वृत्ति को छोड़ कर साधु बन जायगा और एक आत्मानन्द में विहार करना ही इसकी दिनचर्या हो जायगी।

अजी ! यह तो सभी जानते हैं कि कोई भी मंत्र हो, वह ॐकार के बिना सिद्ध हो ही नहीं सकता, वह तो अपना फल दे ही नहीं सकता। इस ॐकार के बिना तो वह मृतक-समान ही है, तभी तो हरएक मंत्र को आदि में ॐकार अवश्यमेव रहता, या लगाया जाता है। क्योंकि इस भारतवर्ष में हिन्दूमात्र के साम्प्रदायिक मंत्रों में यह

ॐकार रहता ही है, इसलिये इस ॐकार से किसी भी सम्प्रदाय को घृणा या द्वेष नहीं है और न कभी हो हो सकता है।

जिस एकाक्षर के बिना सभी मंत्र प्राण-रहित शरीर के समान अथवा जल से विहीन सरिता के सरिस एवं निर्गंध पुष्प के सदृश निकम्मे हो जाते हैं और जिसको पाकर शक्तिमान बन बैठते हैं,उसी एकाक्षर ॐकारदेव की शरण में हम जिज्ञासुओं को क्यों न जाना चाहिये! अर्थात् अवश्य जाना चाहिये। अजी! यदि बनी-बनायी रसोई मिल जाय, तो चूल्हे-चौके के खटपट में कौन पड़ेगा ? मक्खन के अनायास हाथ लग जाने पर कौन ऐसा मूर्ख होगा; जो मथानी चलाता फिरेगा? सच बात तो यह है कि तबतक ही मनुष्य इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है, जबतक ही उसके घर की गड़ी हुई चिन्तामणि उसे प्राप्त नहीं हो पाती। वैसे ही जब प्रणव की महामहिमा का पता लग गया, जब चारो पदार्थ का दाता मिल गया; तब फिर हमें और मत्रों से क्या प्रयोजन है?

श्रीमान् मेरे प्रिय सच्चे स्वरूप! आप जानते हैं कि इस ॐकार में कितनी मात्राएँ हैं। अजी! इसमें तो अ,उ,म;

ये ही तीन मात्राएँ हैं,अर्थात् अकार,उकार और मकार,ये तीनों मिलकर एक'ॐ' होते हैं। अब विचार कीजिये कि इन अक्षरों के बिना क्या कोई भी नाम या मंत्र बन सकते हैं ? और तो जाने दीजिये, केवल एक अकार के ही बिना कोई भी वर्ण (अक्षर) बन न सकेगा। वह तो पूरा हो हो न सकेगा; अधूरा ही रह जायगा। जब एक अकार के बिना कोई वर्ण ही न बन सकेगा, तब शब्द तो बन ही नहीं सकता है,फिर शब्द के न बनने से, वाक्य कैसे हो सकेंगे, , क्योंकि शब्दों के समूह को ही तो वाक्य कहते हैं। आप कोई भी वाक्य, नाम या मंत्र को ले लीजिये, उसमें शब्दों को ही भरा हुआ पायेंगे। अब कहिये, जगत् के हरएक पदार्थ नाम वाले हो तो हैं ? नाम के अभाव से पदार्थों का ही अभाव हो गया और चीज़ों के न रहने से संसार ही कहाँ रह जाता है ? क्यों, वस्तुओं के समुदाय ही को तो संसार कहते हैं। नामरूपात्मक पदार्थों को छोड़कर और जगत है ही कहाँ ? इस रीति से वेद, शास्त्र, पुराण, देवता-देवी, यंत्र-मंत्र,तन्त्र इत्यादि सभी पदार्थ नामात्मक होने से एक ॐकार ही से सिद्ध होते हैं, अर्थात् इनकी

स्थिति तो एक ॐ कार की ही सत्ता से बनी है; यदि इनमें त्रिमात्रिक ॐ कार व्याप्त न रहता, तो ये कभी के लापता हो गये होते।

प्रिय सज्जनों! आपने किसी संत-महात्मा अथवा विद्वान के मुख से यह सुना होगा, या किसी ग्रन्थ में ही पढ़ा होगा कि 'एक परमात्मा की ही सत्ता से यह जगत् ठहरा है,' 'इस समस्त नाम-रूप में एक ब्रह्म ही भरा हुआ है।' अजी! वही परमात्मा, वही ब्रह्म यह ॐ कार है। यह ॐ कार विघ्ननाशक गणेश है। गण नाम है समूह का; और ईश नाम है, स्वामी का। नाम-रूपों का समूह जो यह संसार है, उसका जो हो स्वामी, उसी का नाम है गणेश। यह वक्रतुण्डी ॐकार ही इस संसार का स्वामी है, नियामक है, और शासक है। यह गणनायक भक्तों का मनोरथ पूर्ण करता है, इस लम्बोदर ने तो अखिल विश्व को अपने पेट में रख लिया है। इसीने तो द्वितीया का चन्द्रमा होकर शंकर के ललाट को सुशोभित किया है, इसीने कृष्ण होकर त्रिभंगी-रूप धारण किया था, और श्री कृष्णचन्द्र ने अपनी वंशी के द्वारा इसी ॐकार की ध्वनि निकाली थी। जब उन्होंने मुरली फूँकी

थीं,तब तो इस ॐकार की गुञ्जार ने गोपियों के तन-मन को चुरा लिया था। उस समय तो इन्द्रादि देवताओं की भी सुधि-बुधि भूल गयी थी, शेष भी विह्वल होकर झूमने लग गये थे; भोलानाथ मस्त होकर नृत्य करने लग गये थे,ऋषि-मुनि तो प्रेम में पागल हो बेहोश ही पड़ गये थे, शारदा की वाणी भी रुक गयी थी। ब्रह्मा सत्यलोक से दौड़ पड़े थे, विष्णु अपने आपको, अपने ऐश्वर्य को भूल पड़े थे। अहह !! यह कैसी मस्तानी आवाज़ है ? यह कैसी जादूभरी ध्वनि है।

अजी ! इसने तो उस समय सारे संसार में बड़ी चहल-पहल मचा दी थी, सारे विश्व में आनन्द का संचार हो उठा था, उस समय तो मानो जड़ भी ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लग गये थे।

वेदान्त का कथन है कि जगत् का हरएक पदार्थ एक सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही कल्पित हैं ! यहाँ जितने भी गुण, आकार-प्रकार या विकार हैं, वे सब नामरूपात्मक पदार्थों के ही हैं, न कि सच्चिदानन्द परमात्मा के हैं। संसार के नामरूपात्मक भाग के निकाल देने पर सिवा एक सच्चिदानन्दघन के और कोई भी आकार-प्रकार,

गुण या विकार नहीं बचता। यह नामरूपात्मक जगत् तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है; अर्थात् पहला स्थूल जगत्, दूसरा सूक्ष्म जगत् और तीसरा कारण जगत्। नेत्रों से दिखाई देनेवाले संसार के जितने स्थूल पदार्थ हैं, वे सब मिलकर स्थूल जगत् कहलाते हैं और जितनी सूक्ष्म सृष्टि है (जैसे, इन्द्रियाँ प्राण और अन्तःकरण), वह सूक्ष्म जगत् कही जाती है तथा माया को कारणजगत् कहते हैं। स्थूल जगत् में व्यापी चैतन्यदेव, स्थूल जगत् के सहित विराट नाम से कहा जाता है, और सूक्ष्म जगत् में रहनेवाला परमात्मा सूक्ष्म जगत् के सहित हिरण्य-गर्भ कहलाता है तथा कारण जगत् में रहने से वही महेश्वर अन्तर्यामी की संज्ञा में आ जाता है।

जिस प्रकार आत्मा एक ही स्थूल शरीर में रहकर शरीर का अभिमानी होने से विश्व, सूक्ष्म शरीर में अभिमान करने से तैजस और कारण शरीर या अविद्या में इस प्रकार अभिमान करने से कि 'मैं अज्ञानी हूँ' प्राज्ञ कहलाता है; उसी प्रकार एक ही ईश्वर स्थूलादि जगत् का अभिमानी बनने से विराटादि नामोंवाला हो जाता है।

प्रिय पाठक-वृन्द! आप कहते होंगे कि आपने तो

प्रणव का प्रकरण उठाया था, ॐकारोपासना की महत्ता का वर्णन शुरू किया था, बीच ही में यह क्यों गड़बड़ी मचाने लगे ? कहाँ तो ॐकारदेव की सुन्दर व्याख्या हो रही थी, कहाँ अब तीन जगत् तथा उनके अभिमानियों का वर्णन होने लगा। अजी ! यह तो अप्रासंगिक वक्तृता है। इसमें श्रोतागण को संतोष कैसे मिलेगा। प्रिय श्रोतागण ! आप घबड़ाइये नहीं, यह अप्रासंगिक तथा भ्रमात्मक व्याख्यान नहीं है, अपितु मैं तो यह सब प्रणव का ही बर्णन कर रहा हूँ। यदि आप कहें कि यह कैसे ? तो इसलिये कि जिस जगत में स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये तीनों जगत् एक ही ब्रह्म में कल्पित हैं, जैसे—अ × उ × म = ॐ है। जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये तीनों जगत् एक ही ब्रह्म में कल्पित हैं, उसी प्रकार अकार, उकार और मकार, तीन वर्ण या अक्षर भी उसी एक ब्रह्म में कल्पित हैं। जैसे उन तीनों जगत् में ब्रह्म व्यापक है, वैसे ही इन मात्राओं में भी ब्रह्म व्याप्त है। जैसे वे तीनों जगत् मिलकर एक संसार या ब्रह्माण्ड कहलाते हैं, वैसे ही अकारादि मात्राओं के मिलाप को ही 'ॐ' कहते हैं। वहाँ स्थूल और कारण

संसार के बीच में सूक्ष्म संसार है, तो यहाँ भी अकार और मकार के बीच में उकार है। वहाँ स्थूलादि तीनों उपाधियों को मायामय और मिथ्या समझकर छोड़ देने पर ईश्वर की विराटादि संज्ञायें मिटकर केवल एक ब्रह्म ही बच रहता है, तो यहाँ भी अकारादि मात्राओं को मिथ्या—कल्पित—जानकर उनका त्याग कर देने पर एक अमात्र ही शेष रह जाता है। ऐसे ही जीव की भी दशा समझ लेनी चाहिये, अर्थात उसके भी स्थूलादि शरीरों को मिथ्या समझ लेने पर उसकी विश्वादि संज्ञायें मिटकर केवल एक साक्षी—तुरीय—ही बच रहता है। अब विचार करके देखें तो ईश्वर का बचा हुआ जो ब्रह्म है और ॐकार का बचा हुआ जो अमात्र है, तथा जीव का शेष जो साक्षी—कूटस्थ— है वे सब एक ही हैं इनमें रंच भी अंतर नहीं है, अर्थात् यों समझिये कि वे सब नाम एक ही सच्चिदानन्दघन के (स्थूलादि तीन जगत्, अकारादि तीन मात्राएँ और स्थूलादि तीन शरीर-रूप उपाधियों के कारण) रख दिये गये हैं।

मेरे प्रिय आत्मन ! ईश्वर, जीव, जगत् और ॐ; ये भी परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं, अर्थात् ये आपस में एक

दूसरे से भिन्न नहीं है। इसी रीति से आप स्थूल जगत् कहिये अथवा इसीको जाग्रत अवस्था या अकार कह डालिये, कोई भी अन्तर नहीं पड़ने का। इसी प्रकार आप सूक्ष्म जगत् को स्वप्नावस्था या मानसिक सृष्टि कह सकते हैं, अथवा इसको उकार कहने में भी कोई हानि न होगी। फिर कारण जगत् को आप प्रसन्नता के साथ सुषुप्ति अवस्था या मकार मात्रा कह सकते हैं।

अजी! अभी तक तो इस पूर्व के विवेचन से उपाधि का बाध करके बचे हुए चेतनों की एकता की गयी तथा उन उपाधियों की एकता का और पारस्परिक अभेद भाव का वर्णन किया गया। अब आपको उन उपाधियों के अभिमानियों में भी परस्पर अभिन्नता ही समझनी होगी। क्योंकि विराट और विश्व, ये दोनों ही स्थूल के अभिमानी हैं, इसलिये इन दोनों में स्वरूप से कुछ भी अन्तर नहीं है। अंतर सिर्फ समष्टि और व्यष्टि का है।

किसी भी पदार्थ के समूचे रूप को समष्टि और उसी के किसी एक अंश को व्यष्टि कहते हैं। विराट तो जगत् के समस्त पदार्थों को अपना रूप मानता है और विश्व केवल एक शरीर को ही, इसी प्रकार हिरण्यगर्भ और

तैजस भी एक ही हैं, क्योंकि ये दोनों सूक्ष्म सृष्टि के अभिमानी हैं; इन दोनों में भी भेद केवल समष्टि और व्यष्टि का ही है। फिर अन्तर्यामी और प्राज्ञ, ये दोनों तो कारण से ही बद्ध हैं, इनमें भी अंतर केवल समष्टि और व्यष्टि का ही समझना चाहिये अर्थात् अन्तर्यामी तो जगत् की कारण-रूपा महामाया का प्रेरक है और प्राज्ञ उस माया का एक अंशमात्र अविद्या के ही वशीभूत है।

जिस प्रकार कोई पुरुष थोड़ी-सी ज़मीन का मालिक हो जाने से ज़मींदार कहलाने लगता है, फिर जब उसी को हज़ार-पाँच सौ बीघे ज़मीन मिल जाती है, तब वह बाबू हो जाता है; पुनः जब वही पुरुष बहुत से ज़िलों का स्वतन्त्र राज पा जाता है, तो लोग उसे राजा कहने लगते हैं, और जब वह पृथिवी भर का स्वतन्त्र मालिक बन बैठता है, तब तो वह चक्रवर्ती राजा कहा जाता है। उसका बड़ा भारी अधिकार हो जाता है, उसके आधीन बाबू, राजा, साहु, सेठ सभी हो जाते हैं। उसकी हुकूमत सारी दुनियाँ में चलती है, वह संसार पर स्वतन्त्र शासन करता है, उसे लोग एक

दूसरा ईश्वर ही मानने लगते हैं। अब वाचक-वृन्द यह बतलावें कि जब उस पुरुष के पास कुछ भी ज़मीन नहीं रहती तब उसका शरीर क्या दूसरा रहता है, और जब वह ज़मींदार, बाबू, आदि होता जाता है, तब क्या वह बदलता जाता है ? उसके रूप में क्या अन्तर पड़ता जाता है ?

जी नहीं, वह पुरुष तो वही रहता है, सिर्फ़ उसकी ख्याति और संज्ञा में अन्तर पड़ता जाता है। उनका बाबू आदि कहलाना तथा दुनियाँ पर विशेष हुकूमत चलाना इत्यादि बातें तो ज़मीन-रूपी उपाधि के कारण हो जाती हैं। यदि उसकी सम्पूर्ण पृथिवी न छीन ली जाय, तो वह बेचारा फिर ज्यों-का-त्यों ख्याति तथा संज्ञा से हीन हो जायगा।

प्रिय पाठक गण ! ठीक यही दशा उस अविकारी चैतन्य की भी है। वह अविनाशी देव मिथ्या उपाधियों के कल्पित सम्बन्ध से नाना नाम और अधिकार वाला प्रतीत हो रहा है। वह परमात्मा ॐ कार के अकारादि मात्राओं के सहित अकारादि कहलाता है और जब ये अकारादि वर्ण परस्पर मिलकर ॐकार के रूप में हो जाते हैं,

तब वह 'ॐ' कहलाने लगता है। जिस काल में उपासक पुरुष इन अकारादि मात्राओं को मिथ्या समझ लेता है, उसी काल में वह अमात्र हो जाता है। इसी प्रकार जाग्रतादि अवस्थाओं के सम्बन्ध से तो वह विश्वादि कहलाता है, और तीनों अवस्थाओं की अपेक्षा उसीको जीव कहा जाता है। पुनः जब तीनों अवस्थाओं को कल्पित समझकर त्याग दिया जाता है, तब एक ही कूटस्थात्मा बच जाता है।

इस प्रकार स्थूलादि तीन जगत् के कारण से ही वह परमेश्वर विराटादि नामों के चक्कर में फँस जाता है और जब वह तीनों जगत् को इकट्ठा करके ब्रह्माण्ड के रूप से नाता जोड़ देता है, तब तो ईश्वर-संज्ञा के घेरे में आ जाता है; फिर तीनों जगत् को मिथ्या समझ लेने पर तो उसका कल्पित सम्बन्ध छूट जाता है और वह केवल एक ब्रह्मरूप से ही रह जाता है

जब मुमुक्षु पुरुष पूर्वोक्त रीति से ॐकार के स्वरूप को भली-भाँति जान लेता है और अपनी आत्मा को, अपने स्वरूप को ॐकार-रूप ही समझने लगता है तथा ॐकार को ईश्वर-रूप जानता है, तब तो वह ॐकारोपा-

सना के द्वारा, उसके उच्चारण, स्मरण एवं चिन्तन के द्वारा अपने को ईश्वर समझने लगता है, और जब वह शरीर छोड़ता है, तब तत्पद के वाच्यार्थ ओंकार-स्वरूप ईश्वर ही बन जाता है, अर्थात् उसे ईश्वरता प्राप्त हो जाती है। उस समय वह जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता बन जाता है। तब तो वह जीवों पर अनुग्रह का कर्ता, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा अवतारधारी इत्यादि होने लगता है।

जब उपासक ओंकारोपासना द्वारा इस प्रकार का चिन्तन करता है कि 'मैं अकार-सम्बन्धी विश्व या विराट नहीं हूँ, उकारवाले तैजस और हिरण्य-गर्भ से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, मकार के स्वरूप प्राज्ञ और अन्तर्यामी से मैं पृथक् हूँ, प्रणव का वाच्य जीव या सगुण ईश्वर भी मैं नहीं हूँ; बल्कि मैं मात्राओं से परे प्रणव का लक्ष्यार्थ अमात्र चेतन हूँ, मुझको ही आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। वास्तव में मुझ संज्ञाहीन को आत्मा ब्रह्म, अमात्र आदि भी कहते नहीं बनता। मैं तो तुरीयातीत, मन और वाणी से परे, व्यक्त-अव्यक्त से भी अलग, द्वैत-अद्वैत से बिल्कुल दूर हूँ और मैं शून्य-अशून्य

से भी नितान्त भिन्न हूँ। मुझमें न सुख है, न दुःख; न पुण्य है, न पाप; न तो जाति है और न वर्ण। आश्रम तथा आश्रमों के आचार से मैं एकदम निराला हूँ। मोह, शोक तथा मद और मात्सर्य तो मुझे छू भी नहीं सकते। मैं पाँच कोश, पाँच प्राण और तीन शरीर से पृथक्, अनन्त, अखण्ड, निरवच्छिन्न और शिव हूँ।'

इस प्रकार की उपासना करते-करते जब उपासक पुरुष माया तथा माया-जनित अखिल प्रपञ्च को भूल जाता है, इसको निहायत भ्रम का पुतला समझ लेता है; जब उसका अनात्मिक अभ्यास अच्छी तरह नष्ट हो जाता है, तब वह अपने पूर्ण रूप का अनुभव करने लगता है, शान्ति तथा आनन्द की मूर्ति बन बैठता है। तब तो वह ॐकार का स्मरण भी नहीं करता। उसका अन्तःकरण संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है। उसकी अनिर्वचनीय स्थिति हो जाती है। उसकी अवस्था का वर्णन लेख तथा वाणी द्वारा करना सर्वथा असम्भव है। वहाँ लेखनी रुक जाती है, वाणी बन्द हो जाती है और बुद्धि ज़वाब दे देती है।

मेरे प्रिय आत्मन! समझे न। यही है प्रणव की

सच्ची उपासना, यही है वेदान्त का रहस्य। इसीको परम पुरुषार्थ या मुक्ति कहते हैं, यही नर-तन पाने का वास्तविक लाभ है।

यों तो प्रणव की अकारादि एक-एक मात्राओं की उपासनाओं से भी, अर्थात् उनको ही अपना स्वरूप समझने से उन मात्राओं के सम्बन्धी विराट आदि देवों से एकता तो हो ही जाती है, उपासक उनके स्वरूपों को प्राप्त ही हो जाता है, परन्तु उससे दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तो होती ही नहीं, क्योंकि वे उपासनाएँ परिच्छिन्न की हैं। भला परिच्छिन्न से अपरिच्छिन्न की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?

ऐ मुमुक्षुओ! तुम अखण्ड हो, अतएव तुम्हें अपने अखण्ड स्वरूप की प्राप्ति करनी होगी, तुम्हें आत्यन्तिक सुख प्राप्त करना होगा, तुम्हें मुक्ति किसीसे उधार या मोल नहीं लेनी होगी। तुम्हें दर-दर ठोकरें खानी नहीं पड़ेंगी। अजी! तुम्हें तो प्रणव के आश्रय से मुक्त होना होगा, कृतकृत्य होना पड़ेगा।

पुराणों में लिखा है कि भोला ने प्रणवरूप धनुष से ही त्रिपुरासुर का वध किया था। अजी! उन्होंने

तो उस दैत्य की तीनों पुरियाँ जला डाली थीं।

ऐ मुमुक्षु महेश! तुम्हें भी ॐकार के ही सहारे अहंकार-रूप त्रिपुरासुर की स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन शरीर या जगत्-रूप पुरियों को नष्ट (मिथ्या) करना होगा, और उनके निवासी जो विश्व, तैजस और प्राज्ञ अथवा विराट, हिरण्यगर्भ तथा अन्तर्यामी-रूप जो दैत्य की मज्ञाएँ हैं, उनको मार भगाना होगा। फिर त्रिपुर-सहायक रागद्वेष, छल, कपट, पाखण्ड, दम्भ आदि असुरों का संहार कर देना होगा। इनके नाश करने में सत्य, अहिंसा, सोच, संतोष, विवेक, शम, दम, विचार आदि देवता तुम्हारे सहायक होंगे। इसके बाद अहंकार-रूप त्रिपुरासुर को भी अखण्ड ब्रह्माकार-वृत्ति के एक ही बाण से भस्मीभूत कर देना होगा। फिर तो कहना ही क्या है? इसके बाद तुम्हारा निष्कंटक राज्य हो जायगा और तुम ज्ञान-गणेश तथा वैराग्य कार्तिक और पूर्ण शान्ति-रूप हैमवती के साथ अद्वैतानन्द के सिंहासन पर सुशोभित होओगे।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

चेतन का नानात्व

जैसे साधु पुरुष भी तस्करों के साथ पड़कर चोर कहलाने लगता है; अथवा जैसे दैवयोग से कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण कलाल की दूकान पर जा बैठे, तो लोग उसे मद्यपी समझने लगेंगे; या जैसे किसी जितेन्द्रिय पुरुष को भी वेश्या के पलँग पर बैठा हुआ देखकर दुनिया उसे वेश्यागामी ही समझती है; वैसे ही एक ही निष्क्रिय, शुद्ध चेतन अंतःकरणादि उपाधियों के सङ्ग से प्रमाता आदि कहलाने लगता है। जैसे एक ही जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन अवस्थाओं के सम्बन्ध से क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहलाने लगता है, अथवा जैसे ब्राह्मणादि वर्णों के शरीर में पड़कर आत्मा ब्राह्मणादि-रूप से प्रतीत होने लगता है, वैसे ही एक ही निर्दोषी चैतन्यदेव अन्तःकरणादि के घेरे में पड़कर प्रमाता आदि के रूप में हो गया है।

सृष्टि के पहले प्रकृति ब्रह्म में वैसे ही अभिन्न रूप से छिपी रहती है, जैसे निस्पन्द अवस्था में वायु आकाश से मिल-जुलकर, एकता करके रहती है। फिर वह प्रकृति

पूर्व कल्प के प्राणियों को उनके कर्मों का फल देने के लिये स्वाभाविक ही कुछ स्थूल रूप में वैसे ही व्यक्त हो जाती है। जैसे वायु का संचार आकाश में अपने-आप होने लगता है। पुनः वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने तमोगुण भाग से आकाशादि पंचभूतों के रूप में हो जाती है, फिर उन तमोगुणप्रधान भूतों से नामरूपात्मक स्थूल जगत् रच देती है, अथवा वह जगत् के रूप में स्वयं हो जाती है। चूंकि इस नामरूपात्मक विश्व को प्रकृति एक ब्रह्म में ही रच देती है, इसलिये वह ब्रह्म जगत् के हरएक नाम-रूप में वैसे ही व्याप्त है, जैसे समुद्र के अन्दर बने हुए तरंग और बुदबुदों में एक जल भरा रहता है। बस, इन नाम रूपात्मक पदार्थों में पड़ा हुआ वही चैतन्य ब्रह्म तो इनके सम्बन्ध से, साथ से, 'प्रमेय चेतन' कहलाता है।

जब वही त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने सतोगुणी हिस्से को अंतःकरण के रूप में कर देती है अथवा वह अपने सतोगुण भाग से स्वतः अंतःकरण के रूप में हो जाती है, तब तो मानो वह आत्मा—ब्रह्म—को फँसाने के लिये कपट का कलेवर ही बना लेती है; बस, उसी

अंतःकरण में पड़ा हुआ आतमा तो 'प्रमाता चेतन' कहलाता है। यह प्रमाता प्रकृति भगवती के अंतःकरण-रूपी गोद में बैठा हुआ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि रूप अनेक रंगों से युक्त वृत्ति-अंचल को ओढ़कर उसमें बिल्कुल लुक-छिप जाता है।

जैसे स्वच्छ जल के ऊपर जब जवनिका आच्छादित हो जाती है, तब तो वहाँ जल दिखाई ही नहीं देता, वरन् केवल जवनिका ही जवनिका दीख पड़ती है। वैसे ही वह अविकारी आत्मा अन्तःकरण की कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि वृत्तियों से ढका हुआ कर्ता-भोक्ता आदि के रूप में दिखाई देने लगता है। अथवा जैसे नाट्य-गृह में किसी पुरुष को दूसरे रूप में दिखलाने के लिये एक दूसरी पोशाक पहना दी जाती है, तब तो वह अपनी असली सूरत में न दीख कर एक दूसरे ही रूप में दिखलायी देने लगता है, और फिर वह लगता है उस पोशाक के अनुरूप काम करने। वैसे ही इस संसार रूपी नाट्य-गृह में जबमाया-नटी इस आत्मा को अन्तःकरण की पोशाक पहना देती है, तब तो इसका निर्विकारी शुद्ध स्वरूप छिपकर यह प्रमाता, चिदाभास या जीवरूप से

प्रतीत होने लगता है और फिर अन्तःकरणरूप पोशाक के अनुकूल कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि का तमाशा भी करने लगता है।

पुनः माया—प्रकृति—प्रत्येक भूतों के सतोगुण से एक-एक ज्ञानेन्द्रियाँ बनाती है, जैसे आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वचा, अग्नि से नेत्र, जल से रसना और पृथिवी से घ्राण। जिस प्रकार किसी नगर से बाहर निकलने के लिये भिन्न-भिन्न आकार वाले पाँच मार्ग बने हों, जिनके द्वारा निकल कर शत्रुओं को वश में किया जा सके। वैसे ही यह माया शरीर-नगर के अन्तःकरणरूपी महल से निकलने के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग तैयार कर देती है।

अजी, यह माया तो बड़ी जालसाजी करती है। इसने तो अपनी मायिक रचना में मय-दानव का भी तिरस्कार कर डाला है। यह नाना रूपों के धारण करने में ऐसी चतुर है कि इन इन्द्रियों के रूप में भी स्वयं ही हो जाती है। फिर तो यह अपनी वृत्ति के हाथों में प्रमाता की रोशनी को लेकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पर अधिकार जमाने के लिये, प्रमाता

के इन चोरों को पहचानने के लिये अन्तःकरण के महल से इन्द्रिय-मार्ग द्वारा बारी-बारी से निकला करती है। क्योंकि विषय (प्रमेय) का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही होता है, अतः इन्द्रियों को प्रमाण कहते हैं।

पुनः यदि थोड़ा विचार करके देखा जाय, तो अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण है, क्योंकि जब तक वह वृत्ति इन्द्रियों द्वारा विषयों तक नहीं जायगी, तब तक तो विषयों का ज्ञान हो ही नहीं सकेगा। और वह वृत्ति भी प्रमाता चेतन से वैसे ही व्याप्त रहती है, जैसे अग्नि से तपाये हुए लोहे में अग्नि। क्योंकि वह वृत्ति इन्द्रियों-द्वारा निकलकर ही किसी पदार्थ को प्रमाणित करती है। उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करा देती है, इसलिये वह वृत्ति जब अन्तःकरण से निकलकर इन्द्रिय-मार्गों में आ जाती है, अथवा इन्द्रिय-मार्ग से होकर निकलती है, तब प्रमाण कही जाती है, और उस समय वृत्ति का व्याप्त चेतन—'प्रमाण चेतन' कहलाता है।

दो उपाधियों के एक जगह होते ही, उनके आपस में मिलते ही, उनकी व्याप्त वस्तु एक ही हो जाती है। जैसे, घड़े को किसी घर में रख देने पर उस घड़े का आकाश

घर के आकाश से भिन्न नहीं रह जाता, अपितु दोनों आकाश (घटाकाश और मठाकाश) एक ही हो जाते हैं। कारण यह कि आकाश में तो कोई भेद रहता नहीं, भेद तो घट तथा मठ-रूप उपाधियों का किया हुआ रहता है। इसलिये घट और मठ उपाधियों के एक होते ही घटाकाश और मठाकाश का पारस्परिक भेद मिट जाता है। अथवा जैसे एक ही सूर्य का प्रतिविम्ब जल से परिपूर्ण दो घड़ों में पड़ने से दो मालूम होता है, परन्तु दोनों घड़ों के जलों को किसी एक बड़े पात्र में रखते ही वे सूर्य-प्रतिविम्ब भी एक ही हो जाते हैं। वैसे ही जब अंतःकरण की वृत्ति नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा निकलकर किसी पदार्थ से जा मिलती है, तब तो वह उस पदार्थ से मिलकर बिल्कुल एक हो जाती है। वह तो उस वस्तु के आकार की ही हो जाती है। उस वृत्ति और पदार्थ (विषय) के एक होते ही वृत्ति का प्रमाण चेतन और विषय का प्रमेय चेतन, ये दोनों एक होकर 'प्रमा चेतन' या 'प्रमिति चेतन' कहलाने लगते हैं। अर्थात्, उस समय चेतन की प्रमेय चेतन और प्रमाण चेतन ये दोनों संज्ञाएँ मिटकर केवल प्रमा चेतन बच रहता है।

प्रिय वाचक-वृन्द ! पूर्वोक्त प्रकार से एक ही अद्वितीय चेतन, विषय, अन्तःकरण (बुद्धि), इन्द्रिय तथा विषयों की एकता, इन चार उपाधियों के कारण, अर्थात् इन उपाधियों में पड़कर, क्रमशः प्रमेय चेतन, विषय चेतन, प्रमाता चेतन, प्रमांण चेतन और प्रमा चेतन या प्रमिति चेतन, इन चार नामों वाला हो जाता है।

चूँकि एक माया ने ही इन चार उपाधियों का रूप धारण किया है, इसलिये ये उपाधियाँ माया से भिन्न नहीं हैं, बल्कि माया से वैसे ही अभिन्न हैं, जैसे मिट्टी से बने हुए पात्र मिट्टीरूप ही होते हैं। फिर चूँकि शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती, इसलिये वह माया ब्रह्म की शक्ति होने से ब्रह्म से अलग नहीं है, अपितु ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार की युक्ति से या विचार से जब सम्पूर्ण उपाधियाँ एक ब्रह्मरूप ही हो जाती हैं, तब तो उन उपाधियों के किये हुए चेतन के चारों भेद नष्ट होकर एक अविकारी शुद्ध चेतन ही बच रहता है।

अजी ! अब जीवत्व कहाँ रह गया ? अब तो कर्ता, कर्म और क्रिया भी नहीं रह गयी। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का भी एकदम अभाव हो गया। अब भोक्ता, भोग्य

और भोक्तृत्व भी लापता हो गये। अब तो—

संचित रहे कुछ भी नहीं सब ज्ञान से दग्धित हुए।
मैं ही रहा केवल, मुझे अब पाप-पुण्य नहीं छुए।
मैं आतमा आनन्द हूँ, आनन्द हूँ, आनन्द हूँ।
निर्द्वंद्व हूँ, निर्द्वंद्व हूँ, निर्द्वंद्व हूँ, निर्द्वंद्व हूँ ॥१॥

सब भूत का अवकाश हूँ, अवकाश हूँ, अवकाश हूँ।
परकाश हूँ, परकाश हूँ, परकाश हूँ, परकाश हूँ।
निर्गुण, निरञ्जन, मुक्त, शाश्वत, निर्विकार, अचिंत्य हूँ।
मैं सत्य हूँ, मैं सत्य हूँ, मैं सत्य हूँ, मैं सत्य हूँ ॥२॥

किसी भी अज्ञात वस्तु को जानने के लिये जब बुद्धि उपाधिवाला प्रमाता चेतन उत्सुक हो जाता है, तब वह मन तथा ज्ञानेन्द्रिय उपाधिवाले प्रमाण के द्वारा उस वस्तु का ज्ञान कर ही लेता है; इसलिये प्रमाता विज्ञानमय और प्रमाण मनोमय कहलाता है। जब प्रमाण चेतन अन्तःकरण की वृत्ति के सहित किसी पदार्थ पर पहुँचकर उस पदार्थ से मिलजुल करके उसके आकार का हो जाता है, तब उसी समय प्रमाता उस पदार्थ का ज्ञान करता है। अतएव उस समय प्रमाता ज्ञाता और प्रमाण

ज्ञान तथा उस पदार्थ का चेतन ज्ञेय हो जाता है। इस प्रकार एक ही चेतन उपाधि की वजह से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी स्वयं ही हो जाता है।

मेरे प्रिय आत्मन्! यह तो आप जानते ही होंगे कि किसी भी कर्म का प्रारम्भ वस्तु के ज्ञान हो जाने पर ही होता है। अजी! जबतक किसी विषय का ज्ञान अच्छी प्रकार नहीं हो जायगा, तबतक हम उसकी प्राप्ति या निवृत्तिनिमित्त किसी कर्म में तत्पर कैसे होंगे? उद्योग या प्रयत्न ही क्योंकर करेंगे? इस नियम से ज्ञेय वस्तु यदि अनुकूल रहती है, तो उसकी प्राप्तिनिमित्त और जब प्रतिकूल होती है, तब तो उसके दूर अथवा नाश करने के लिये या उससे स्वयं हटने के लिये यह जीव प्रयत्न में लग जाता है।

जैसे संसारी जीव पहले स्वर्ग, स्त्री, पुत्र और धनादि के अच्छेपन (सुखद) का ज्ञान प्राप्त करके फिर उनकी प्राप्तिनिमित्त यज्ञ, दानादि कर्मों में तत्पर हो जाते हैं, वैसे ही मुमुक्षु जीव भी पहले प्रपंच के मिथ्यात्व तथा ब्रह्म की सत्यता का विवेक करके ही, कारण (अज्ञान) के सहित प्रपंच की निवृत्ति और ब्रह्म-प्राप्ति के लिए

श्रवणादि साधनों में लग जाते हैं !

अजी ! थोड़ा ध्यान तो दीजिये । जो प्रमाता वस्तु-ज्ञान के पहले ज्ञाता में हुआ था, वही अब कर्म के प्रारम्भ होते ही कर्ता बन बैठता है, और जो प्रमाण ज्ञान के रूप में हुआ था, वह तो कारण; तथा जो प्रमेय ज्ञेय बना था, वही अब क्रिया के रूप में हो जाता है । इस रीति से एक ही चैतन्यदेव कर्ता, करण तथा क्रिया के रूप में भी हो जाया करता है ।

फिर देखिये न ! जब विषय की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् जीव को जब अपने कर्म का, उद्योग का फल आ मिलता है, तब तो जीव को बड़ा ही सुख होता है । उस सुखोपभोग के समय तो वह प्रमाता भोक्ता, प्रमाण भोक्तृत्व (भोक्तापन) और प्रमेय भोग्य बन जाता है । इस प्रकार एक ही शुद्ध चेतन उपाधियों के कारण वैसे ही अपना रूप बदलता रहता है, जैसे गिरगिट (एक तिर्यग् जन्तु) अपना रंग बदला करता है ।

प्रिय पाठकगण ! चूँकि पूर्वोक्त रीति से एक ही चेतन द्रष्टा, दर्शन और दृश्य; ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय; कर्ता क्रिया और करण तथा भोक्ता, भोग्य और भोक्तापन

इत्यादि के रूप में स्वयं होता रहता है, इसलिये सब कुछ चैतन्यमात्र है। क्योंकि जगत इन पूर्वोक्त त्रिपुटियों से भिन्न नहीं है, इसलिये भी यह चैतन्यरूप ही है।

अजी! सच पूछिये, तो इन त्रिपुटियों की व्यवस्थाएँ तो अज्ञान-निद्रा ही में होती रहती हैं। भला, अपरिणामी देव को परिणामी बना देने में कौन समर्थ है? यह सब तमाशा तो माया के द्वारा मिथ्या ही होता रहता है। क्या आप यह नहीं जानते कि स्वप्न का द्रष्टा जाग्रत् के द्रष्टा से नितान्त भिन्न होता है? वह तो प्रतीतिमात्र झूठा ही होता है। स्वप्न के दर्शन तथा दृश्य भी तो अवास्तविक ही होते हैं। इतना ही नहीं, वहाँ के तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी मिथ्या ही होते हैं। नींद के टूटते ही वहाँ के भोक्ता, भोग्य तथा भोक्तापन भी नहीं दिखाई देते।

अजी! चूँकि जाग्रत् अवस्था के उदय होते ही उस स्वप्न के कोई भी पदार्थ नहीं रह जाते, अतएव वे सब मिथ्या समझे जाते हैं। वैसे ही जाग्रत् अवस्था की त्रिपुटियाँ, वस्तुएँ भी तत्त्वज्ञान न हो जाने पर बिल्कुल झूठी हो जाती हैं; अतः ये भी दिखाऊमात्र ढकोसला ही हैं, यथार्थ ही हैं। वास्तव में तो एक ही तत्त्व अपने आपमें स्थित है।

अजी ! उसको एक भी हम कैसे कहें ? उसको एक कहने का साहस होगा किसको ? भला यह तो बताइये कि उस एक का अनुभव करेगा कौन ? यदि उसका अनुभव करनेवाला भी कहीं से टपक पड़ा, तब तो .खूब बना ! अब उसकी एकता रह ही कहाँ गयी ? क्योंकि अब तो एक अनुभव करनेवाला और दूसरा अनुभाव्य—अनुभव करने योग्य—ये दो हो गये। इसलिये, भाई ! 'वह ब्रह्म अद्वैत है' ऐसा कहने ही से द्वैत खड़ा हो जाता है, क्योंकि अद्वैत का बिना अनुभव किये ही ऐसा कोई कहेगा कैसे ? और जब अनुभव करनेवाला हो गया, तो पूर्वोक्त प्रकार से अद्वैत रह ही कहाँ जाता है ? अद्वैत को अनुभवगम्य कहने में एक और भी दोष आ उपस्थित होता है।

यदि ब्रह्म किसी के अनुभव में आगया, तब तो उसकी चेतना ही जाती रही। उसको तो जड़ बना दिया गया, क्योंकि अनुभव में आनेवाली चीज़ जड़ होती है। इस नियम से जब ब्रह्म जड़ हो गया, तब तो वह नामरूपात्मक, उत्पत्तिवाला तथा देश, काल और वस्तु से सीमित हो गया; क्योंकि जड़ चीज़ें इसी प्रकार

की होता हैं। फिर चूँकि ऐसी वस्तुयें तो मिथ्या, नश्वर तथा दुःखरूप होती हैं, अतएव ब्रह्म भी विनाशी तथा दुःख का स्वरूप ही हो गया। अब ऐसे ब्रह्म की क्या ज़रूरत रह गयी। इसकी उपासना से, प्राप्ति से क्या फ़ायदा? जीव तो स्वयं ही जड़, विनाशी एवं दुःखमय है, फिर ऐसे ही अपने सरीखे ही पदार्थ का भजन करके और भी दुःखी बन बैठे? और भी अधिक मृत्यु-पाश में फँसे? आग लगे ऐसी उपासना में!

अब कहिये महाशय! आपके अनुभव ने, आपके अद्वैत के स्मरण या कथन ने कैसा अनर्थ कर डाला? आपको कैसी दशा पर पहुँचाया? इसलिये भाई! वह ब्रह्म, वह अद्वैत, वह अपना निज स्वरूप तो मन, बुद्धि और वाणी से परे है, उसे मौन की वाणी से बतलाया जाता है और हृदय के श्रोत्र से सुना जाता है। भजन, उपासना, श्रवण, मनन इत्यादि साधन तो केवल उस तत्व के अनादि काल के मिथ्या आवरण को दूर करने के लिये किये जाते हैं। जो शुद्ध—विषय-वासना से रहित—बुद्धि पूर्वोक्त साधनों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके आवरण (अज्ञान) का नाश कर देती है, वह भी आवरण के नाश होते

ही उस ज्ञान के सहित स्वयं नष्ट हो जाती है; बुद्धि के नाश होते ही जीवत्व का नाश हो जाता है; क्योंकि बुद्धि-प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है, वही तो जीव है ? बुद्धि के न रहने से, उसमें का प्रतिबिम्ब किस प्रकार रह सकता है ?

अब तो अज्ञान-जनित जीव संसार आदि सभी का अभाव होकर, केवल वही एक तत्व रह गया, जिसमें कि सकल उपाधियाँ, समस्त प्रपंच कल्पित था। उस तत्व का अब भले ही कोई अनुभव करनेवाला न रह जाय, उसको भले ही कोई न जाने, पर उसकी कोई भी क्षति नहीं होने की; उसमें ज़रा भी अन्तर नहीं पड़ने का। यही मोक्ष है, यही कैवल्य है। यही जीव के पुरुषार्थ का, कर्मों का अन्त है, यही वेदान्त है, और यही ज्ञान की अन्तिम सीमा है, बस,........।

जिज्ञासु जन यह कहते होंगे कि 'आपने पहले यह कहकर कि उस ब्रह्म को अद्वैत भी नहीं कहा जा सकता, फिर यह कैसे कह डाला कि अब अखिल प्रपंच का अभाव होकर एक तत्व रह गया ? क्या यह द्वैत का प्रतिपादन नहीं है ?

मेरे प्यारे आत्मन् ! यह आपका कहना बहुत ठीक

है, परन्तु मैं क्या करूं, लाचार हूँ। यहाँ कुछ लिखना है। आप जिज्ञासुओं के प्रति कुछ तत्व का प्रतिपादन करना है, और उस ब्रह्म के विषय में जो कुछ कहा जायगा, वह सब द्वैत ही हो जायगा। वह वाणी और मन का विषय हो जायगा। उसमें द्वैत की गंध अवश्य आ जायगी। अब आप ही बतलावें, मैं क्या करूँ? कुछ लिखकर, कुछ कहकर आप लोगों को संतुष्ट करूँ? या मौन होकर आप लोगों को उदासीन कर दूँ? परन्तु इसके साथ-ही-साथ मुझे यह पूर्ण आशा है और पूर्ण विश्वास है कि इस मेरे द्वैत के प्रतिपादन से ही आप लोगों को अद्वैत और द्वैत से परे वस्तु का बोध तो हो ही जायगा, क्योंकि यह द्वैत पूर्ण द्वैत तो है ही नहीं।

अजी! यह द्वैतवादियों का द्वैतवाद तो है ही नहीं। इस द्वैत में तो केवल द्वैत की गंधमात्र है। यह गंध तो आप लोगों के सहित उस अनिर्वचनीय तत्व में जाकर लीन हो जायगी। आप लोगों के इस नक़ली स्वरूप को तो रहने ही नहीं देगी, अपितु आप भी अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त होगी, और आप लोगों को भी करायेगी। इसलिये मेरे प्रिय आत्मन! आप मेरी इस

द्वैत की भाषा से घबरायें मत, इससे उदासीन या अप्रसन्न न हों। इसका सप्रेम तथा सादर श्रवण करें, मनन करें। इससे आपका कल्याण होगा, आपको सच्चा सुख मिलेगा, सचमुच आपकी बड़ी भलाई होगी। इससे आप तो द्वैत और अद्वैत से परे चले जावेंगे।

अपकीर्ति हुई जिसकी जग में, उसको अब मृत्यु कहाँ चहिये।
जब क्रोध बसा जिसके उर में, उसको तब सर्प कहाँ चहिये॥
नित शील वसे जिसके तन में, तब भूषण ताहि कहाँ चहिये।
जिसका मन शुद्ध हुआ उसको, अब राम सुतीर्थ कहाँ चहिये॥१॥

संम-तोष बसें जिसके उर में, उसको धन और कहाँ चहिये।
नित शान्ति बसी जिसके हिय में, उसको वर नारि कहाँ चहिये॥
हरि-भक्ति बसी जब 'राम' हिये, उसको सुख आन कहाँ चहिये।
जब आतम ज्ञान हुआ उर में, तब और सुलाभ कहाँ चहिये॥२॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वृत्ति-ज्ञान के भेद

किसी भी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति से ही होता है। कारण यह है कि अन्तःकरण पाँच भूतों के सतोगुण से बना है, अतएव वह स्वच्छ है और उसके स्वच्छ होने से ही उसकी वृत्तियाँ (परिणाम) भी स्वच्छ ही होती हैं तथा जिस कूटस्थ चेतन में यह अन्तः- करण अपनी वृत्तियों के सहित कल्पित है, अर्थात् झूठमूठ ही प्रतीत हो रहा है, वह ज्ञानस्वरूप कूटस्थ चेतन उस अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में सामान्यरूप से व्यापक रहता है। इसलिये उसका प्रतिबिम्ब उस स्वच्छ अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तियों में भी पड़ा रहता है।

प्रिय वाचकवृन्द! आपने देखा होगा कि यद्यपि धूप में रखे हुये दर्पण में सूर्य का प्रकाश सामान्यरूप से तो पड़ा ही रहता है, फिर भी उसी सूर्य का प्रतिबिम्ब उस दर्पण में विशेषरूप से भी पड़ता है। और जब उस दर्पण में से उस प्रतिबिम्बित सूर्य का प्रकाश किसी अंधेरे घर में जा चमकता है, तब वहाँ प्रकाश कर ही देता है, तथा उसके उस प्रकाश से तो वहाँ के कुछ पदार्थ भी

दीखने लग जाते हैं। देखिये न, वहाँ तो वह मिथ्या आभास सूर्य-प्रतिविम्ब भी अद्भुत कार्य कर देता है। वह तो असली सूर्य के समान थोड़े-से तिमिर का नाश करके वहाँ की कुछ वस्तुओं को प्रकाशित भी कर डालता है। इसी प्रकार अंतः-करण की वृत्ति भी जब किसी पदार्थ पर जा पड़ती है, तब उस वृत्ति का कूटस्थ आत्मा का प्रतिविम्ब भी वहाँ चमक उठता है और अपने उस प्रकाश (ज्ञान) से उस वस्तु को जान जाता है। सूर्य के उस प्रतिविम्ब में और इस आत्म-प्रतिविम्ब में यही अन्तर है कि वह सूर्य प्रति-विम्ब तो जड़ सूर्य का होता है, इसलिये वह भी जड़ ही होता है! अतएव वह प्रकाश तो कर देता है, लेकिन वह खुद किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं करता, बल्कि उसके प्रकाश से प्रकाशित वस्तुओं का ज्ञान चैतन्य प्राणी करते हैं। परन्तु यह वृत्ति का प्रतिविम्ब (जीव) तो चैतन्यात्मा का होता है, अतः यह वृत्ति की सहायता से जहाँ भी जिस वस्तु पर पहुँच जाता है, वहाँ उस पदार्थ का ज्ञान स्वयं कर लेता है।

अजी! आभास तो उस उपाधि के अनुसार ही हुआ करता है, जिसमें कि वह पड़ा रहता है। क्योंकि माया

एक है और वह ऐसी बड़ी है कि उसके एक कोने में यह अखिल ब्रह्माण्ड पड़ा हुआ है, तथा वह माया शुद्ध सत्व-गुण की प्रधानता से बहुत स्वच्छ है। इसलिये उनमें प्रति-बिम्बित चेतन का आभास एक, व्यापक तथा सर्वज्ञ होता है। परंतु अविद्या या अन्तःकरण तो अनेक परिच्छिन्न मलिन सत्वगुण की प्रधानता से नाना, सीमित तथा अल्पज्ञ होते हैं।

चूँकि अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित जीव उस वृत्ति ही के सहारे पदार्थों का ज्ञान किया करता है, अतएव जब वृत्ति का किसी वस्तु से सम्बन्ध हो जाता है, तब जीव उस वस्तु को जान जाता है, अर्थात् वृत्ति जहाँ तक जाती है अथवा जितने स्थान को आच्छादित कर देती है, उतने ही स्थान का ज्ञान जीव करता है। परन्तु माया की वृत्ति तो व्यापक होती है। अजी! वह तो एकबारगी विश्व भर पर हमला करती रहती है, अतः माया और माया की वृत्तियों का आभास जो ईश्वर है, वह तो संसार भर की बातें जानता रहता है। आप कितना ही छिपकर कोई भी काम करें, वह ईश्वर तो उस माया-वृत्ति के द्वारा उसको ज्ञान हो जायगा। उस ईश्वर

के लिये वह वृत्ति तो दुनिया भर का भेद, पोल खोलकर ही छोड़ती है।

अजी! बेचारे आभास—जीव और ईश्वर—तो अपने उसी शुद्ध स्वरूप के समान असंग, निष्क्रिय एवं निर्विकार हैं, जिसके वे प्रतिबिम्ब हैं, परन्तु उनको छोटा-बड़ा, अल्पज्ञ-सर्वज्ञ अनेक एक इत्यादि धर्मों वाला तो वृत्तियों ने ही बना रक्खे हैं। क्या आपने नहीं देखा है कि रात को डोलते हुए जल-तरंग उस नदी के निर्दोषी चन्द्र-प्रतिबिम्ब को डोलाते रहते हैं? इसी प्रकार अन्तःकरण और माया की वृत्तियों ने ही जीव और ईश्वर को रात-दिन डावाँडोल कर रक्खा है। ईश्वर बेचारा तो हमेशा सृष्टि, पालन और लय के पचड़े में पड़ा रहता है, और जीव तो चौबीसों घंटे कर्तृत्व और भोक्तृत्व के फन्दे में फँसा रहता है।

प्रिय पाठकगण! पहले कहा जा चुका है कि वृत्ति और पदार्थ के संयोग से ही ज्ञान होता है, अर्थात् जब किसी विषय के साथ वृत्ति का सम्बन्ध हो जाता है, तब उस विषय का ज्ञान तुरन्त हो जाता है। अब यह शंका होती है कि जो सुख-दुःखादि आन्तरिक विषय हैं, वे तो

अन्तःकरण में ही होते हैं। अतः वृत्ति से सम्बन्ध वे रोक-टोक हो जाता है, परन्तु जो बाहर के घट-पदादि पदार्थ हैं, उनका साथ वृत्ति कैसे करती है ? अजी ! अन्तःकरण की वृत्ति तो शरीर के अन्दर होती है। उसके निकलने के लिये कोई मार्ग तो अवश्य ही चाहिये। जिस प्रकार जल के निकास के लिये किसी रास्ते की आवश्यकता पड़ती है। जब कुएँ से पानी निकाला जाता है, तब उसे नाली ही के द्वारा खेत तक पहुँचाया जाता है, उसी प्रकार इस वृत्ति को विषय तक ले जाने के लिये कोई उपाय अवश्य चाहिये।

अजी ! इस अन्तःकरण के कुएँ से निकला हुआ वृत्ति-जल तो प्रमाण को नालियों से विषय-क्षेत्र तक पहुँचता है, क्योंकि पाँच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन के द्वारा वृत्ति विषयों पर धावा बोल देती है, इसलिये ये छः प्रमाण कहे जाते हैं। यदि ये श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन न रहें, तो शब्दादि विषय प्रमाणित क्योंकर हो सकते हैं ? उनको आकार-प्रकार का ज्ञान ही कैसे हो सकता है ?

जिस प्रकार किसी घर में देहरी (दीयटि) पर रखे हुए दीपक की रोशनी उस घर के छोटे-छोटे झरोखों से निकलकर जब उन झरोखों के सामने की चीज़ों पर पड़ती

है, तब उन चीज़ों के आकार की ही हो जाती है। उसी प्रकार स्थूलशरीर रूपी घर में कूटस्थ आत्मा की दीयटि पर रखा हुआ अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चिदाभास दीपक का वृत्ति-प्रतिबिम्बित प्रकाश जब मन के सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप झरोखों से निकलता है, तब तो शब्दादि विषयों से जा लिपटती है। जैसे—जब अन्तःकरण की वृत्ति श्रोत्र द्वारा निकलती है, तब शब्द-विषय को पकड़ लेती है। जब वह त्वचा से प्रकट होती है, तब स्पर्श से मिलजुल जाती है। वह नेत्र से निकल कर तो रूप से नाता जोड़ देती है। रस से परिचय तो वह जीभ ही के द्वारा करती है। नाक के रास्ते से तो गंध को अपने पंजे में कर लेती है। केवल मन से तो वह शरीर के भीतरी अन्तःकरण ही में राग-द्वेष, सुख-दुःखादि विषयों से हिल-मिल जाती है।

जैसे गौ का प्यारा बछड़ा क्षुधातुर हुआ गौओं को झुण्ड में जब दौड़ पड़ता है, तब तो उस झुण्ड की सब गौओं को छोड़कर केवल एक अपनी माता ही के थन में जा लगता है। अजी! वह नवजात भूखा बछड़ा तो और किसी ओर ताकता भी नहीं, बल्कि उन सम्पूर्ण गौओं के बीच में से अपनी माता को ही ढूँढ़ निकालता

है और लगता है खूब दूध पीने।

अजी! वहाँ उस वत्स का जड़ मुहँ तो दूध पीता है, लेकिन दूध की मधुरता का ज्ञान होता है उस वत्स-तन के जीव को। ठीक इसी तरह अंतःकरण की वृत्ति इन्द्रिय द्वारा निकल कर अपनी इच्छित वस्तु पर जा पहुँचती है। यद्यपि वहाँ पर और भी बहुत-से पदार्थ भले ही हों, परन्तु वह तो उन्हें छोड़ ही देती है। उसको तो उनसे कुछ भी ज़रूरत नहीं रहती। वे उसके लिये बिल्कुल नीरस रहते हैं। अजी! उस समय तो उस वृत्ति के लिये एक वही वस्तु सुखमय होती है, जिसके लिये वह दौड़ी रहती है। वह वृत्ति वहाँ के अन्य पदार्थों को अलग करके, अपनी अभिलषित वस्तु को पकड़ तो लेती है, परन्तु वह उसका ज्ञान तो कर ही नहीं सकती। वह उसको जान ही नहीं सकती कि यह कौन-सी चीज़ है; क्योंकि वह स्वरूप से अन्धी—ज्ञानविहीन—है, जड़ है। लेकिन उस वृत्ति का चैतन्याभास तो जड़ है ही नहीं, अपितु वह तो ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब होने से ज्ञानमय है। इसलिये वह उस वृत्ति के पकड़े हुए विषय को प्रकाशित कर देता है;

उसका ज्ञान कर लेता है कि 'यह अमुक वस्तु है।' इस रीति से अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय-झरोखों से निकलकर आवरण को हटाती जाती है, उसका नाश करती जाती है और उस वृत्ति का चिदाभास (जीव) प्रकाश (ज्ञान) करता जाता है। परन्तु जब वह अंतःकरण की वृत्ति शरीर से बाहर नहीं निकलती, अपितु अंतःकरण में ही किसी विषय को पकड़ लेती है, तब तो उस विषय का ज्ञान साक्षी (अन्तःकरण को व्यापक चेतन, जिसका कि प्रतिबिम्ब चिदाभास है) करता है। अंतःकरण के विषय तो राग-द्वेष, सुख-दुःखादि हैं।

जब कि अन्तःकरण की वृत्ति से किसी वस्तु का सम्बन्ध साक्षात् (आवरण-रहित) हो जाता है, तब तो उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है; और बीच में किसी परदे के पड़ जाने से तो उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैसे—चूँकि बढ़ई बसूले के द्वारा अपने कामों को करता है, इसलिये बसूलों को करण कहते हैं। वैसे ही वृत्ति-प्रतिबिम्बित जीव भी मन-इन्द्रियों के द्वारा ही किसी भी पदार्थ का ज्ञान करता है, इसलिये मन और श्रोत्रादि इन्द्रियाँ भी करण कहलाती हैं।

ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक प्रमा-ज्ञान और दूसरा अप्रमा-ज्ञान। इनमें से प्रमाज्ञान अपरोक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का होता है। वृत्ति का विषय से साक्षात् सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान होता है, वह अपरोक्ष अप्रमाज्ञान कहलाता है। जैसे—जब अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा निकलकर घड़े पर जा पड़ती है, तब 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। बस, इसी ज्ञान को अपरोक्ष प्रमाज्ञान समझना चाहिये। जब तो अन्तःकरण की वृत्ति बाहर न निकले, बल्कि शरीर के भीतर अन्तःकरण में ही किसी मानसिक (मनःकल्पित) पदार्थ से सम्बन्ध कर लें, उसके आकार की हो जाय, तब तो उसको परोक्ष प्रमाज्ञान कहते हैं। जैसे, किसी जगह पर दूर से धुवें को देखकर ऐसा निश्चय होता है कि वहाँ पर अवश्य अग्नि है। यदि वहाँ पर आग न होती, तो धुआँ निकता ही क्यों ? क्योंकि मैंने देखा है कि रसोई-घर में अग्नि के रहने ही से वहाँ धुवाँ निकला करता है।

इस प्रकार के अनुमान-द्वारा निश्चय से उस दूरस्थ आग से वृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध तो नहीं हुआ, उसको नेत्र प्रत्यक्ष तो नहीं देख सके, परन्तु वृत्ति तो उस अग्नि

का वहाँ पर निश्चय करते ही, उसके ध्यानमात्र से ही शरीर के भीतर अग्नि के आकार की हो ही गयी। बस, 'वहाँ अग्नि है' इस प्रकार के ही ज्ञान को परोक्ष प्रमा-ज्ञान कहना चाहिये।

प्रिय पाठको! जीव के हृदय में अज्ञान की दो शक्तियाँ होती हैं, एक तो असत्वापादक और दूसरी अभानापादक। किसी भी वस्तु की मौजूदगी में भी जब ऐसा निश्चय हो कि 'वह वस्तु नहीं है' तो जानना चाहिये कि यह अज्ञान की असत्वापादक शक्ति है। भाई! अज्ञान की बड़ी भारी शक्ति है। पदार्थ के रहते हुये भी ऐसा निश्चय कर लेना कि 'नहीं है', भला, यह अज्ञान की महिमा नहीं है, तो और है ही क्या? फिर तो जब ऐसा जान पड़ता है कि 'चीज़ तो है, लेकिन उसका भान नहीं होता, तब तो वह अज्ञान की अभानापादक नामवाली दूसरी शक्ति कहलाती है। अजी! किसी वस्तु की प्रतीति न होनी, उसको न जानना, यही तो अज्ञान है।

प्रिय मुमुक्षुओ! वस्तु का परोक्ष ज्ञान तो अज्ञान की पहली शक्ति का नाश कर देता है। जैसे, जब धूम को देखकर वहाँ अग्नि का परोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब त

यह निश्चय हो जाता है कि अग्नि (वस्तु) है। इस निश्चय के द्वारा तो 'वस्तु नहीं है' इस अज्ञान का नाश ही हो जाता है। फिर तो जब वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब तो अज्ञान की दूसरी शक्ति अभाना-पादक का भी अभाव हो जाता है, तब तो यह कहा ही नहीं जाता कि 'वस्तु का भान नहीं होता।' जैसे जब हम धूम से अग्नि का अनुमान करके जब वहाँ पर पहुँच जाते हैं, और उस अग्नि को अपने आँखों से प्रत्यक्ष देख लेते हैं, तब तो यह कहना ही नहीं पड़ता कि भाई ! हमें अग्नि प्रतीत नहीं होती।

प्रिय जिज्ञासुवृन्द ! चूँकि ब्रह्म के विषय में भी जीवों के अन्तःकरण में अज्ञान की पूर्वोक्त दोनों शक्तियाँ अनादि काल से अपना अड्डा जमाये हुये हैं, इसलिये यह प्रतीत हो रहा है कि 'भाई! ईश्वर-फीस्वर कहीं कुछ नहीं है। अगर होता, तो क्या दिखलायी न देता ? जब कि श्रुति-शास्त्र के अद्वैत-रहस्य के जाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के शरणागत तन, मन और धन से होकर उनके मुखारविन्द से श्रुति-शास्त्रों के सिद्धान्त को श्रवण-मनन करने से जब यह निश्चय हो जाता है कि

'सच्चिदानन्द नित्य मुक्त ब्रह्म है' तब तो अज्ञान की पहली शक्ति नष्ट हो जाती है। पुनः जब तत्वमस्यादि महावाक्यों के मतलब को अच्छी प्रकार समझकर बार-बार निदिध्यासन किया जाता है, तब तो ऐसा अनुभव होता है कि 'वह सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही हूँ'। इस प्रकार का बोध होते ही अज्ञान की दूसरी शक्ति भी नष्ट हो जाती है। 'वह सच्चिदानान्द ब्रह्म है' यह तो परोक्ष प्रमाज्ञान है और 'वह सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ' यह अपरोक्ष प्रमाज्ञान है।

पूर्वोक्त अपरोक्ष प्रमाज्ञान और परोक्ष प्रमाज्ञान के होने में छः प्रमाण हेतु हैं, अर्थात् ये दोनों प्रकार के ज्ञान छः प्रमाण के द्वारा होते हैं। छः प्रमाण ये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। वेदान्तशास्त्र में ही छहों प्रमाण प्रसिद्ध हैं। क्या आप कह सकते हैं कि हैं प्रमाण क्या हैं ?

अजो ! ये तो मापने की वस्तु हैं। इनसे वस्तु का माप ठीक-ठीक हो जाता है। ये प्रमाण यह ज्ञात करा देते हैं कि यह पदार्थ इस प्रकार का है, इतने में है, यह नकली है अथवा असली है ? जैसे कसौटी से सोने की पहचान हो

जाती है, या जैसे हंस से दूध की असलियत छिपी नहीं रह सकती अथवा जैसे तौलने के बटखरे (पत्थर) से किसी भी पदार्थ का वज़न तो हो ही जाता है; वैसे ही इन प्रमाणों से किसी भी चीज़ की कलई खुले बिना हरगिज़ नहीं रह सकती। जैसे वैद्य से रोग भली भाँति पहचाने जाते हैं, दिन के आते ही जगत् के पदार्थ ज्यों के त्यों दिखायी देने लगते हैं; वैसे ही इन प्रमाणों के द्वारा वस्तु की परीक्षा यथा-तथ्य हो जाती है। वह अपने असली रूप से स्पष्ट भासने लगती है।

मेरे प्रिय आत्मन्! इन प्रमाणों के द्वारा ही हमारे पूजनीय ऋषियों ने इस जगत् का पोल खोल डाला था, इसके मिथ्यात्व को अच्छी तरह समझ लिया था। अजी! इस संसार में इन प्रमाणों ने ही माया-नटी के आडम्बर को हटाया है। इन्होंने तो इसके नृत्य को ही बन्द कर दिया है। इसके प्रसार का अन्त करके ही छोड़ा है। इन प्रमाणों से वह माया वैसे ही डरती है, जैसे सिंह के सामने हथिनी। जब ये छः प्रमाणों के सूर्य अविद्या-रजनी का अन्त कर देते हैं, तब ब्रह्म अपने आत्मा के रूप में होकर प्रकाशित होता है।

आत्मा के प्रकाशित होते ही जन्म-मरण की ठोकरें खानी नहीं पड़तीं, राग-द्वेषादि उलूकों का चारा नहीं चलता और शोक, मोहरूप निशिचरों से पिंड छूट जाता है। प्रिय जिज्ञासु-वृन्द ! अब आप लोगों को इन छः प्रमाणों की व्याख्या सुनने की जिज्ञासा होती होगी। आप सोचते होंगे कि जिन प्रत्यक्षादि प्रमाणों की इतनी भारी महिमा कही गयी, उनके स्वरूप को ठीक-ठीक जानना चाहिये। इस-लिये अब मैं आप लोगों के लिये उन प्रमाणों की व्याख्या करता हूँ। आप ध्यान देकर सुनें।

जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है, अन्तःकरण की वृत्ति से उस पदार्थ का आवरण-रहित संयोग हो जाता है, तब वह 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहलाता है। यों तो मन्द अन्धकार में स्थाणु (ठूँठ वृक्ष) भी दिखाई देता ही है, तो क्या वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जायगा ? जी नहीं, वहाँ तो यह संशय रहता है कि 'स्थाणु है ? अथवा चोर है ?' अजी ! वहाँ तो उस स्थाणु को देखने के लिये, उसको यथार्थ रूप से जानने के लिये अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र-द्वारा निक-लती तो है सही, परन्तु मन्द अन्धकार के कारण उसको ठीक-ठीक न देख सकने से भ्रम हो जाता है। बस, इस

भ्रम को ही अविद्या की वृत्ति कहते हैं। अजी! इस अविद्या की वृत्ति के उत्पन्न होते ही वह पहले की अन्तःकरण की वृत्ति नष्ट हो जाती है। उसके नष्ट होते ही यह विद्या-वृत्ति ऐसी प्रबल हो जाती है कि वहाँ प्रमाता (जीव) को प्रथम तो संशय होता है कि 'स्थाणु है? या चोर है?' पुनः ऐसा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) हो जाता है कि ठीक है। यह चोर ही है। बस, ये भ्रम, संशय और विपर्यय की वृत्तियाँ ही अविद्या की वृत्ति कही जाती हैं। क्योंकि इन वृत्तियों के द्वारा जो कुछ ज्ञान होगा, वह अयथार्थ ही होगा, इसलिये इन वृत्तियों से उत्पन्न ज्ञान प्रमाज्ञान नहीं कहा जायगा। जो ज्ञान अंतःकरण की वृत्ति से और छः प्रमाणों के द्वारा हो तथा पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ हो, वही प्रमा-ज्ञान कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से 'अपरोक्ष प्रमा ज्ञान होता है।

जब किसी लिङ्ग—चिन्ह—के द्वारा किसी वस्तु के अस्तित्व का अनुमान कर लिया जाता है, तब उसको 'अनुमान प्रमाण' कहा जाता है, जैसे, कहीं धूम्र को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि वहाँ अग्नि अवश्य है। यदि वहाँ अग्नि नहीं रहती, तो धुवाँ दिख-

लायी ही क्यों देता ? चूँकि अग्नि के विना धूम्र स्वतन्त्र कहीं भी नहीं देखा जाता, इसलिये अग्नि के अस्तित्व का धूम्र एक बड़ा भारी चिन्ह है। क्योंकि अनुमान प्रमाण से वस्तु का साक्षात्कार तो नहीं होता, पर उसके अस्तित्व का, उसकी सत्ता या विद्यमानता का तो निश्चय हो ही जाता है,। इसलिये अनुमान प्रमाण से तो 'परोक्ष प्रमाज्ञान' होता है।

जब कोई पुरुष पहले किसी वस्तु के सदृश चीज़ को देखकर यह निश्चय किये रहता है कि वह वस्तु इसी वस्तु के समान होती है और फिर कभी वह असली वस्तु नेत्र के सामने पड़ जाती है, तब वह यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि यह वस्तु ठीक वही है, क्योंकि यह उसी वस्तु के समान है। इसी को 'उपमान प्रमाण' कहते हैं। जैसे, मान लीजिये कि आपने कभी नीली गाय नहीं देखी है, लेकिन किसी वनवासी पुरुष से यह सुना है कि गौ के सदृश्य नीली गाय होती है, फिर जब कभी आपने जंगल में नीली गाय देखी, तो यह निश्चय कर लिया कि 'ठीक, यही नीली गाय है, क्योंकि यह गौ के समान है। इस उपमान प्रमाण से तो वस्तु का 'अपरोक्ष प्रमा-

ज्ञान' होता है।

किसी सत्यवादी पुरुष के वचनों को सुनकर जो कुछ ज्ञान पैदा होता है, वह 'शब्द प्रमाण' से समझा जायगा; क्योंकि उस ज्ञान के होने में उस पुरुष के मुख से निकला हुआ शब्द ही प्रमाण या हेतु रहता है। अजी! इस शब्द-प्रमाण से तो परोक्ष और अपरोक्ष—ये दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं। जिस वाक्य से यह ज्ञान हो कि 'वह वस्तु है' अथवा वह 'वस्तु वहाँ है' या 'वह वस्तु इस प्रकार की होती है', तो वह शब्द परोक्ष-ज्ञान का बोधक कहा जायगा और जिससे ऐसा ज्ञान हो कि 'वह वस्तु यही है', तो उसको अपरोक्ष-ज्ञान का बोधक समझना चाहिये।

जो पदार्थ बहुत दूर हैं, दृढ़ परदे के अन्दर है, जो कभी प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता, उसका तो शब्द-प्रमाण से कभी अपरोक्ष-ज्ञान हो ही नहीं सकता। ऐसे पदार्थ तो स्वर्गादि लोक हैं। परन्तु जो वस्तु प्रत्यक्ष हो जानेवाली तथा बहुत समीप है, उसका परोक्ष और अपरोक्ष—दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं। जैसे—किसी पुरुष ने किसी अपरिचित मनुष्य को ढूँढ़ते हुए आकर आपसे पूछा कि

'वह है या नहीं ?' यद्यपि वह अपरिचित व्यक्ति आपके ही समीप जन-समुदाय में है, तथापि जब आप यह कहेंगे कि 'वह यहाँ ही है', तब तो उसको यह बोध होगा कि 'उस पुरुष का अभाव नहीं हुआ है; बल्कि वह यहाँ ही कहीं है।' इसी को तो शब्द-प्रमाण से परोक्ष-ज्ञान हुआ समझा जायगा और जब आप ऐसा कहेंगे कि 'वह पुरुष यही है', तब तो वह उसे प्रत्यक्ष ही देख लेगा, उसे पा जायगा। बस, यही तो शब्द-प्रमाण से अपरोक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति समझी जायगी। क्योंकि उस पुरुष के परोक्ष और अपरोक्ष, इन दोनों प्रकार के ज्ञान में आपके मुख से निकले हुये शब्द ही कारण हुये, इसलिये शब्द को प्रमाण से परोक्ष और अपरोक्ष, दोनों प्रकार का ज्ञान होता है।

जब किसी विषय को देखकर या किसी शब्द को सुनकर किसी अर्थ—प्रयोजन—की प्राप्ति हो, किसी विषय का यथार्थ ज्ञान हो जाय, तब उसको 'अर्थापत्ति-प्रमाण' कहते हैं। यह अर्थापत्तिप्रमाण दो प्रकार का होता है, एक तो दृष्टार्थापत्ति और दूसरा श्रुतार्थापत्ति। जैसे—किसी पुरुष को दिन में खाते हुये कभी नहीं देखा जाता है, परन्तु वह शरीर से ख़ूब हट्टा-कट्टा, मोटा-ताज़ा

दिखायी देता है। उस समय उसकी स्थूलता आदि को देखकर यह पता चल सकता है कि यह दिन में भले ही भोजन न करे, परन्तु रात में तो भोजन करता ही है। यदि यह रात में भी भोजन न करता होता, तो इसका शरीर ऐसा दिखाई न देता, अपितु भोजन के अभाव से यह कभी मर गया होता। चूँकि इस प्रकार उसकी स्थूलता को देखकर रात्रि के भोजन का ज्ञान हुआ, इसलिये यह 'दृष्टार्थापत्ति प्रमाण' कहा जायगा, और जब किसी यथार्थ वक्ता पुरुष ने किसी मनुष्य से कहा कि 'तुम्हारे घर पुत्र हुआ है', तब उसके वचन-श्रवण से पुत्रोत्पत्ति का ज्ञान हो गया। बस, इसीको तो 'श्रुतार्थापत्तिप्रमाण' कहते हैं। अजी! इन दोनों—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति—प्रमाणों से तो केवल परोक्ष ही का ज्ञान होता है।

जब हम कहीं किसी पदार्थ को ढूँढ़ने चलते हैं और वहाँ पर उसको नहीं पाते, तब वह 'अनुपलब्धि प्रमाण' कहलाने लगता है। जैसे—मान लीजिये कि आप किसी आलमारी में किसी पुस्तक को ढूँढ़ने गये और उस पुस्तक को वहाँ नहीं पाया, तो आप यही कहेंगे कि 'अजी महाशय! वह पुस्तक तो यहाँ नहीं है।' चूंकि उस पुस्तक के

अभाव का ज्ञान आपको प्रत्यक्ष है, इसलिये इस अभाव के प्रमाण से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानी जायगी।

प्रिय पाठकगण! उपर्युक्त रीति से छः प्रमाण प्रत्यक्ष, उपमान और उपलब्धि, इन प्रमाणों से तो अपरोक्ष ज्ञान होता है और अनुमान तथा अर्थापत्ति, इनसे परोक्ष ज्ञान होता है। परन्तु शब्द-प्रमाण से अपरोक्ष और परोक्ष, दोनों प्रकार का ज्ञान होता है।

जब कि आभास-सहित अन्तःकरण की वृत्ति प्रमाणों के द्वारा किसी पदार्थ का परोक्ष-ज्ञान करती है, तब उस वृत्ति का नाम परोक्ष प्रमा पड़ता है, और जब अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब तो वह अपरोक्ष प्रमा कहलाती है।

जैसे एक ही स्त्री पिता, पति और पुत्रादि के सम्बन्ध से कन्या, अर्धाङ्गिनी, माता आदि कहलाती है, अथवा जैसे एक ही पुरुष रसोई बनाने से पाचक, पढ़ने से पाठक और पूजा करने से पूजक इत्यादि कहलाने लगता है; वैसे ही एक ही अन्तःकरण की वृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि, इन प्रमाणों के सम्बन्ध से क्रमशः प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति प्रमा, उपमिति-प्रमा, शाब्दी प्रमा, अर्थापत्ति प्रमा और अनुपलब्धि या

अभाव प्रमा कहलाने लगती है। ॐ आनन्दम् !

कोई तो कहत ब्रह्म तीरथ में वास करैं,
कोई तो कहत यज्ञ-मण्डप-मुकाम है ।
कोई तो कहत तप-व्रत महँ रहे वह,
कोई तो कहत बसे जहाँ हरिनाम है ॥
कोई तो कहत रहे हृदय-कमल-बिच,
कोई तो कहत बस, त्रिकुटी में धाम है ।
अखिल जगत-बिच जड़ वो चेतन-माहीं,
'राम' नहिं देखा जहाँ नाहीं ब्रह्म-ठाम है ॥१॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वृत्ति-ज्ञान के भेद (अ)

प्रमावृत्ति

जब किसी भी प्रमाण के द्वारा बाहरी प्रमावृत्ति होती है, या यों कहिये कि जब शरीर के बाहरी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब उसका ज्ञाता प्रमाता होता है; जैसे—यह लेखनी है, यह दावात है, इत्यादि। परंतु

उस ज्ञान से साक्षी—अन्तःकरण का अधिष्ठान—भी वंचित नहीं रह जाता, वरन् वह भी तो उस वस्तु को जान ही लेता है। इस विषय को स्पष्ट इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे—घर के बाहर की किसी एक ही वस्तु को दो साथी घर के अन्दर से देखते हों; उनमें से एक साथी तो उस वस्तु के देखने में ऐसा निमग्न—आसक्त—होगया हो कि अपने साथी और अपने को भी भूल गया हो, परन्तु दूसरा तो चूँकि उस वस्तु को उदासीन—राग-द्वेष से रहित—होकर देखता हो, इसलिये अपने को तथा अपने साथी को भी जानता हो। यहाँ तक कि यह भी जानता हो कि 'यह मेरा साथी भी इस पदार्थ को देख रहा है।'

ठीक उसी प्रकार जब प्रमाता (जीव) अन्तःकरण की वृत्तिरूप अपनी दृष्टि को नेत्रादि झरोखों-द्वारा शरीर के बाहर छोड़ता है, तो उस दृष्टि के सामने जो भी वस्तु पड़ जाती है, बस उसके देखने में, जानने में ही तत्पर हो जाता है। यह तो उस पदार्थ में राग-द्वेष की सृष्टि करने में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि अपने को एकदम भूल जाता है। परन्तु साक्षी कूटस्थ

भी तो उसी अन्तःकरण की वृत्ति से उस पदार्थ को देख ही लेता है, उसको ज्ञान ही जाता है। लेकिन वह उससे राग-द्वेष नहीं करता, बल्कि वह तो जीव तथा जीव के ज्ञान और उसके ज्ञेय पदार्थ को एक साथ वैसे ही प्रकाशता (जानता) है, जैसे दीपक अपने निकटस्थ वस्तुओं को। इसको सुस्पष्ट इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे किसीने कहा कि 'मैं इस पुस्तक को देखता हूँ या जानता हूँ। इस वाक्य में 'मैं' जीव का स्वरूप है और 'देखता हूँ' या 'जानता हूँ' यह तो ज्ञान है तथा 'पुस्तक' तो ज्ञेय है।

प्रश्न—कौन जानता है ? प्रमाता (ज्ञाता)। क्या जानता है ? पुस्तक (ज्ञेय)। पुस्तक को क्या करता है ? जानता है (ज्ञान)। इस ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी का भान (ज्ञान) किसको हुआ ? उस साक्षी को, जिसका प्रतिबिम्ब प्रमाता (ज्ञाता) है।

अजी ! जब कि प्रमाज्ञान शरीर के भीतर अन्तःकरण में ही होता है, तब तो प्रमाता बेचारा उसको जानने में बिल्कुल असमर्थ हो जाता है। कारण यह कि जिस अन्तःकरण में प्रमावृत्ति होती है, जीव का भी निवास उसी अन्तःकरण में रहता है, इसलिये वह प्रमा-

वृत्ति, वह अन्तःकरण का विषय जीव के अत्यन्त निकट रहता है। क्योंकि यह नियम ही है कि कोई भी विषय जब वृत्ति से दूर रहता है, तभी वृत्ति उसको पकड़ने में, जानने में समर्थ होती है। सन्निकट वाले पदार्थ को तो वह जान ही नहीं सकती। जैसे नेत्र के अत्यन्त समीप जो अञ्जन रहता है, उसको नेत्र की वृत्ति नहीं देखती। इसलिये प्रमाता भी अन्तःकरण के विषयों को नहीं जान सकता है। अजी! क्या आप यह कह सकते हैं कि ऐसा वह ज्ञान किसको होता है? अजी! यदि ऐसा ज्ञान जीव को नहीं होता, तो और होता है किसको? यह ज्ञान तो उस साक्षी को होता है, जिसमें कि अंतःकरण अपनी वृत्तियों के सहित कल्पित है, अथवा जो अन्तःकरण और उनकी वृत्तियों में वैसे ही व्याप्त रहता है, जैसे भ्रम-स्थल के सर्प में रस्सी भरी रहती है।

अंतःकरण की वृत्ति भी दो प्रकार की होती है, एक परोक्षप्रमा और दूसरी अपरोक्षप्रमा। जब तो अनुमान, शब्दादि प्रमाणों द्वारा किसी पदार्थ का परोक्ष ज्ञान होता है, तब तो अन्तःकरण की वृत्ति अंतःकरण में ही उस पदार्थ के आकार की हो जाती है, अर्थात् यह निश्चय

है कि 'वह वस्तु इस प्रकार की है और वहाँ है'। तब तो उस वृत्ति को आन्तरिक परोक्ष कहते हैं। और जब किसी वस्तु का अंतःकरण में ही वृत्ति से सम्बन्ध होने से जो ज्ञान होता है, तब तो उसको आन्तरिक अपरोक्ष कहते हैं, और उस ज्ञानाकार वृत्ति को तो आन्तरिक अपरोक्षप्रमा कहा जाता है। अंतःकरण के विषय तो सुख-दुःखादि हैं। जब इनका संचार अंतःकरण में हो जाता है, तब तो जीव उनमें बिल्कुल घुलमिल जाता है। वह तो अपने को सुख-दुःखादि की मूर्ति ही मान बैठता है। उस समय वह बाहरी पदार्थों की तरह यह नहीं कहता कि 'मैं सुख को जानता हूँ, दुःख को जानता हूँ, प्रेम को जानता हूँ अथवा क्रोध को जानता हूँ, इत्यादि।' बल्कि वह तो यों कहने लगता है कि 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मुझे तो प्रेम हुआ है या क्रोध हुआ है, इत्यादि।' इसी से मालूम होता है कि उस समय वह अपने को उन सुखादिकों से भिन्न नहीं मानता है। परन्तु साक्षी तो उस समय भी उन अंतःकरण की वृत्तियों से ही उन सुखादि को अपने से भिन्नरूप जानता रहता है। क्योंकि दुःख के समय सुख की वृत्ति नहीं रहती और जब सुख

की वृत्ति होती है, तब दुःख की वृत्ति का अभाव हो जाता है, इत्यादि। एक वृत्ति के उदय में दूसरी वृत्ति का अभाव रहता है, इसलिये एक वृत्ति को दूसरी वृत्ति नहीं जान सकती। परन्तु इस बात का अनुभव सबको है कि पूर्व के व्यतीत हुए सुख-दुःखादि का स्मरण बना रहता है, यह स्मरण क्यों ? किसको होता है ?

अजी ! यह स्मरण तो उस साक्षी को ही रहता है। चूँकि वह सब उन वृत्तियों के समय उनके अधिष्ठानरूप से रहता ही है, इसलिये उनका अनुभव करके फिर उनके अभाव हो जाने पर भी उनका स्मरण करता रहता है। अजी ! वह चैतन्यदेव तो अन्तःकरण की वृत्ति अनुभव करता है और अविद्या-वृत्ति से स्मरण। इस अविद्या-वृत्ति का सविस्तार वर्णन आगे के 'वृत्ति-ज्ञान के भेद (इ)' शीर्षक में होगा। क्या आप कह सकते हैं कि जबतक एक वृत्ति का अभाव होकर दूसरी वृत्ति का उत्थान होने-वाला रहता है, तबतक उस बीच की अवस्था—संधिकाल—को कौन प्रकाशता (जानता) है ? अजी ! उसको भी वही कूटस्थ साक्षी जानता है।

प्रिय पाठको ! जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में से भी

जीव केवल उसीको जानता है, जो वर्तमान काल में मौजूद रहती हैं, परन्तु साक्षी आत्मा तो उन तीन अवस्थाओं के भाव-अभाव को अच्छी प्रकार जानता रहता है। इतना ही नहीं, अपितु वह तो अवस्थाओं के भी संधिकाल को प्रकाशता है। जैसे जब दिन गत होकर रात आने लगती है, तो कुछ काल तक न तो दिन रहता है और न रात। इसी बीच के समय को दिन-रात्रि की संधि कहते हैं। उसी प्रकार जब एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था आने लगती है, तब कुछ काल तक अवस्थाओं की भी संधि रहती है। इस प्रकार शरीर के बाहरी जाग्रत् अवस्था या घट-पटादि पदार्थों को तथा अन्दर के सुख-दुःखादि विषयों को अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा जीव (प्रमाता) और कूटस्थ साक्षी प्रकाशते रहते हैं।

जब जीव को अनेक जन्मों के पुण्योदय होने से उसको किसी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के दर्शन हो जाते हैं, तब तो वह श्रद्धा तथा विश्वास से युक्त तथा शम-दमादि साधनों से सम्पन्न होकर उस आचार्य के शरणागत हो जाता है, और उनसे सदुपदेश पाकर अपनी परिच्छिन्नता तथा अल्पज्ञता पर पछताने लगता है। साथ-ही-साथ

कूटस्थ को धन्यवाद देने लगता है कि 'ऐ साक्षी ! तू धन्य है। अरे भाई ! तू तो मुझसे अधिक ज्ञान रखता है। जहाँ मैं किसी एक पदार्थ को जानता हूँ, वहाँ तू त्रिपुटीमात्र प्रकाशित कर देता है। मित्रवर ! तुझमें तारीफ़ तो यह है कि तू सदा निर्लेप रहता है। तुझे तो किसी भी शुभाशुभ कर्म का फल भोगना ही नहीं पड़ता। कारण यह है कि तू सदा—सर्वदा राग-द्वेष से रहित रहता है। तेरी किसी भी कर्म में आसक्ति नहीं होती। भाई ! चूंकि मैं भी तो तेरा प्रतिविम्ब हूँ, अतएव मैं तुझसे भिन्न नहीं हूँ। प्रतिविम्ब क्या, पहले तो तुझसे मेरा कुछ भी भेद नहीं था, परन्तु प्रथम मैं इस अंतःकरण और इसकी वृत्तियों में प्रतिविम्बित हुआ और फिर इनके फेर में पड़कर मैं इन पंचकोशमय तीन शरीरों को ही अपना रूप इस प्रकार मानने लगा कि तुझे अपने सच्चे निर्विकारी स्वरूप को बिल्कुल भूल गया। इसलिये मैं अनेक प्रकार के दुःखरूपी कीचड़ में, जन्म-मरण के चक्कर में फँस रहा हूँ।

हे सखे ! अब मेरे अच्छे दिन आगये, भाग्योदय हुआ, श्रीगुरुदेव की असीम कृपा हुई। अब मैं फिर अपने सच्चिदानन्दस्वरूप को, तुझसे अभिन्नता को प्राप्त

हूँगा। हे भाई! चूँकि केवल एक अपना वास्तविक स्वरूप ही अविनाशी है, वह नित्य है, वही अक्षय धन है, वह परम हितैषी है, वही परम धाम है, वह सच्चा सुख है; इसलिये मुझे तो अब उसीसे काम है।

मेरे प्रिय आत्मन्! यह शरीर तो यहीं चिता में भस्म हो जायगा। धन-धाम, मित्र आदि यहीं रह जायँगे। एक दिन इस असार संसार से कूच करना होगा। जब कि यहाँ के सकल पदार्थों को, सामानों को यहीं छोड़ देना है, तब इनमें ममता कैसी? जब ये छूट ही जायँगे, तब इनमें आस्था ही क्यों? विश्वास ही क्योंकर?

तात मात भ्रात सुत सकल सनेही जग,
छूटि जइहैं सेवक सुस्वामि अरु वाम रे!
राज सब साज गज-बाज धन छूटि जइहैं,
सुन्दर सुखद छूटि जइहैं यह धाम रे!
तन जरि जइहैं यह चिता पै छनिक माँहिं,
छूटि जइहैं मित्रगण सुहृद ललाम रे!
बात को विचारि अस प्रेम सों भजहु 'राम'
परमातमा सों अन्त सबही को काम रे!!!

भाई! यह जगत् आपातरमणीय है। यहाँ बड़े-बड़े

धर्मात्मा, वीर, ज्ञानी, भक्त, तपस्वी और उदार पुरुष हुए और सभी काल के गाल में चले गये। बहुत से इस जगत् में धन-धाम और धरातल को मेरा-मेरा कहकर चले गये, परन्तु वे राम ज्यों-के-त्यों यहीं रह गये। हाय ! यह काल तो बड़ा ही निर्दयी है।

कहाँ हरिश्चन्द्र कर्ण बलि सम दानी गये,
कहाँ दुरयोधन जनक महिपाल हैं ?
शुक सनकादि ज्ञानी तपसी दधीचि कहाँ,
वीर अरजुन कहाँ भरत सुचाल हैं ॥
कपिल वशिष्ठ मुनि-ध्यानी न दिखाहिं आज,
दृढ़ व्रतधारी कौन भीषम का हाल है।
कठिन कुरीति 'राम' रहत चलावत है,
क्रूर अभिमानी निरदयी हाय ! काल है ॥

इसलिये, भाई कूटस्थ ! इस कराल काल से बचने के लिये, अपनी परिच्छिन्नता को मिटाने के लिये तथा अमरता को प्राप्त करने के लिये अब मैं तेरी शरण में आता हूँ, तुझसे मिल-जुलकर एक होता हूँ।' इस प्रकार कहकर, सोच-विचार कर, जब जीव अपने अन्तःकरण की वृत्ति को साक्षी की ओर फेंकता है, अथवा

यों समझिये कि जब वह अन्तःकरण की वृत्तिरूप वायु-यान पर चढ़कर 'अहं ब्रह्मास्मि' के बल से कूटस्थ के आकाश में पहुँचता है, तब तो उस वायु-यान में ज्ञाना-अग्नि भड़क उठती है, और प्रचण्ड ज्ञानाग्नि के जलते ही उस आकाश के अज्ञान-अन्धकार का नाश हो जाता है। साथ-ही-साथ उस आग की प्रबलता से वह जहाज़ भी जल-भुनकर ख़ाक हो जाता है। परन्तु उस वृत्ति-वायुयान के आरूढ़ जीव का तो उस अग्नि से एक बाल भी बाँका नहीं होता है; क्योंकि उसका स्वरूप अविनाशी है, वह स्वरूप से अजर और अमर है। उसे पावक नहीं जला सकता, शस्त्र काट नहीं सकते, जल गीला नहीं कर सकता और वायु भी नहीं सुखा सकती।

अजी! उस अज्ञान तथा वृत्ति के नाश होते ही उस जीव की अज्ञान-जनित अल्पज्ञता भी नष्ट हो जाती है। तब वह भ्रान्ति की शय्या से उठ खड़ा होता है और उसके कर्त्ता-भोक्तापन-स्वप्न का नाश हो जाता है। फिर तो वह कूटस्थ से मिलकर वैसे ही एक हो जाता है, जैसे मैदान में रखे हुये घट को फोड़ देने से उसका आकाश महाकाश में मिलकर उससे अभिन्न हो जाता है। अब

उसका जीवत्व मिटकर, उसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव होकर वह नित्यमुक्त सुखस्वरूप से सुशोभित होता है। इस विषय को इस प्रकार और भी स्पष्ट समझना चाहिये।—

जहाँ किसी परदे के अन्दर प्रकाश से रहित जड़ पदार्थ छिपा हो और वहाँ अन्धकार भी हो, तब तो उस परदे के हट जाने या नष्ट हो जाने पर भी उस पदार्थ को देखने के लिये तो प्रकाश की ज़रूरत पड़ती ही है। मान लीजिये कि किसी घर के अन्दर एक सन्दूक में कोई पुस्तक रक्खी है और वहाँ बड़ा अन्धकार है; फिर भी वहाँ उस सन्दूक को खोल या तोड़ देने पर भी तबतक उस पुस्तक को हम न तो साफ़ देख सकते हैं, और न पढ़ ही सकते हैं, जबतक कि वहाँ दीपक आदि का प्रकाश नहीं कर लिया जायगा। परन्तु यदि उस सन्दूक में स्वयं दीपक ही रखा हो, तब तो वहाँ दूसरी रोशनी की कोई आवश्यकता ही न पड़ेगी। तब तो वहाँ केवल उस सन्दूक-रूपी आवरण के हटते ही वह दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हो जायगा। वह स्वयं अपनी रोशनी से ही वहाँ के तम का नाश करके हमें

दीखने लगेगा। ठीक इसी प्रकार जब अंतःकरण की वृत्ति गुरु-वेदान्त के महावाक्यरूपी शब्द-प्रमाण के द्वारा साक्षी के अज्ञान-आवरण का नाश कर देती है, तब तो उस वृत्ति में अनन्त-अखण्ड रूपवाला साक्षी अपने चैतन्य स्वरूप से स्वतः प्रकाशित होता है। उस समय 'मैं अनन्त, अखण्ड तथा शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ', इस प्रकार की वृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार की वृत्ति के जागृत होते ही, ऐसे प्रचण्ड ज्ञान-प्रकाश के होते ही, बेचारे जीव की, वृत्ति प्रतिबिम्बित चेतन की ठीक वैसी ही दशा हो जाती है, जैसी ज्येष्ठ के मध्य दिवस में सूर्य के सामने रक्खे हुए दीपक की। इसके बाद जब वह वृत्ति भी शान्त हो जाती है, अर्थात् जब 'मैं ब्रह्म हूँ', इस सूक्ष्म अहंकार—द्वैत—के परदे का भी अभाव हो जाता है। तब तो उस जीव की विचित्र हालत हो जाती है। जैसे तालाब के जल के सूख जाने पर उसका सूर्य-प्रतिबिम्ब ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता, क्योंकि वह तो सूर्य से जा मिलता है, सूर्यस्वरूप हो जाता है; वैसे ही अहं वृत्ति का अभाव होते ही जीवत्व का लेश भी नहीं रह जाता, अपितु

वह वृत्ति-प्रतिबिम्बित जीव अपने बिम्ब में, अपने सच्चे स्वरूप कूटस्थ में मिलकर एक ही अद्वितीय हो जाता है। वह द्वैत-अद्वैत आदि द्वन्द्वों से परे चला जाता है।

प्यारे पाठको! आप इस पूर्वोक्त प्रकरण से प्रमा-वृत्ति या प्रमाज्ञान का स्वरूप भली भाँति समझ गए होंगे। अजी! अब आप यह तो जान ही गये होंगे कि जो ज्ञान पूर्व अज्ञात विषय का हो, और अंतःकरण की वृत्ति से हो, अर्थात् स्मृति से भिन्न तथा अबाधित हो, उसको 'प्रमाज्ञान' कहते हैं। यद्यपि रस्सी में सर्प का ज्ञान हो जाया करता है, और वह स्मृति से भिन्न प्रत्यक्ष ही रहता है, तथापि एक तो वह अन्तःकरण की वृत्ति से नहीं होता है, किन्तु अविद्या की वृत्ति-द्वारा होता है और दूसरे वह बाधित रहता है; क्योंकि उस रस्सी के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वह सर्प भाग जाता है। वह तो सर्वदा के लिये नष्ट ही हो जाता है। इसलिये वह सर्प-ज्ञान प्रमाज्ञान नहीं हो सकता। और पूर्व अनुभव किये हुये विषय की जो स्मृति (यादगारी) होती है, वह स्मृति-ज्ञान यद्यपि बाधित नहीं होता, तथापि वह तो अविद्या-वृत्ति से होता है और अज्ञात नहीं रहता है; इसलिये वह

भी प्रमाज्ञान नहीं है।

यदि विचार करके देखा जाय, तो व्यावहारिक विषय भी अवाधित नहीं होते, क्योंकि तत्व-ज्ञान के द्वारा इनका भी वाध (नाश) हो ही जाता है। तथापि जवतक ज्ञान नहीं होता, तबतक तो इनका भाव (असलियत) बना ही रहता है। इसलिये व्यावहारिक घट-पटादि पदार्थों के ज्ञान को व्यवहार की प्रमा कह सकते हैं। और 'अहं ब्रह्मास्मि', 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान तो पारमार्थिकी प्रमा है। क्योंकि सीपी में जो चाँदी का ज्ञान हो जाता है, वह तो ब्रह्मज्ञान के बिना भी सिर्फ़ अधिष्ठान (सीपी) के ज्ञान से ही नष्ट हो जाता है। अतः वह प्रमाज्ञान नहीं है; अपितु ऐसे स्थल पर अप्रमाज्ञान ही कहा जा सकता है।

प्रिय जिज्ञासुवृन्द ! अब तो आप लोग प्रमा वृत्तियों का भेद अच्छी प्रकार समझ गये होंगे, लेकिन आप लोगों के अन्तःकरणों में यह जिज्ञासा होती होगी कि 'अप्रमा वृत्ति क्या है ? वह कैसे होती है ? और वह क्या करती है ?' इत्यादि।

मेरे प्रिय आत्मन् ! इस जिज्ञासा की पूर्ति अगले शीर्षक में की जायगी; इसलिये यह विषय आपको वहाँ

से ही जानना होगा। ॐ आनन्दम्!

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वृत्ति-ज्ञान के भेद (इ)

अप्रमावृत्ति

यह तो सब ही जान सकते हैं कि प्रमा का उलटा अर्थ होगा 'अप्रमा', अर्थात् अ माने नहीं हो प्रमा जो उसका नाम है 'अप्रमा'। जबकि स्मृति से भिन्न अथवा अबाधित विषय को ही प्रमा कहते हैं, तब इससे भिन्न जो बाधित होनेवाला या स्मृतिरूप हो, उसको अप्रमा कहा जायगा। क्योंकि बाध (नाश) तो भ्रम, संशय तथा विपर्यय का हो ही जाता है, और ये सब अविद्या की वृत्ति से होते हैं, इसलिये भ्रम से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है, अथवा जिसमें संशय (संदेह) हो या जो विपरीत हो; ऐसे ज्ञान को अप्रमावृत्ति या अप्रमाज्ञान कह सकते हैं।

अन्तःकरण की प्रमा वृत्तियों का नाश अविद्या की

वृत्तियाँ करती हैं और अविद्या की अप्रमा वृत्तियों का नाश तो अन्तःकरण की वृत्तियाँ करती रहती हैं। इस प्रकार दोनों के नाश के लिये दोनों तुली रहती हैं। दोनों में रात-दिन कलह मची रहती है। ये परस्पर खींचातानी में पड़ी रहती हैं। जब अन्तःकरण की वृत्ति उठती है, तब वह प्रकाश लेकर चलती है। उसके उस दिव्य प्रकाश के सामने अप्रमादि तो रह ही नहीं सकते, और अविद्या बेचारी की तो जान ही चली जाती है। और जब अन्तःकरण की वृत्ति किसी विषय के लिये चल पड़ती है और उस विषय तक पहुँचने ही को रहती है कि बीच में ही कोई रुकावट आ उपस्थित होती है। कोई अन्धकारादि का परदा पड़ जाता है, तब तो अविद्या रूपी-राक्षसीश्वरी का दाँव लह जाता है। उस समय वह अपनी वृत्ति-राक्षसी को दौड़ा देती है और वह वृत्ति-राक्षसी आकर उस अन्तःकरण की वृत्ति को पकड़ कर खा ही जाती है। उसके आते ही उसका एकदम नाश हो जाता है। फिर तो अविद्या-राक्षसीश्वरी स्वतंत्र हो जाती है और लगती है अपनी माया फैलाने। उस माया में फँस कर, अविद्या-वृत्ति के वशीभूत होकर जीव बेचारा

मोहित होकर भ्रम में पड़ जाता है। उसकी बुद्धि बिल्कुल भ्रमित हो जाती है और वह संशय-ग्रसित हो जाता है।

अजी! उस समय तो उसकी वैसी ही दशा हो जाती है, जैसी किसी जन्मान्ध को महाकानन में छोड़ देने से होती है। अथवा इसको स्पष्ट यों समझिये कि जब यह जीव किसी विषय-शत्रु पर हमला करने के लिये, उसको पकड़ने के लिये हाथ में अन्तःकरण की वृत्तिरूप रस्सी लेकर शरीर-नगर से इन्द्रिय-सार के द्वारा निकल पड़ता है, और उस रस्सी को उस शत्रु पर बड़े जोरों से फेंकता है; लेकिन बीच (मार्ग) में ही आवरण की तीक्ष्ण काँटेदार झाड़ी पड़ जाती है, और उस झाड़ी की ओट में वह शत्रु छिप जाता है और वह साफ़ दिखलायी नहीं देता है। साथ-ही-साथ वह फेंकी हुई रस्सी भी उस झाड़ी में उलझ कर टूट जाती है। अब तो कहना ही क्या? उस रस्सी के टूटते ही, उसके नाश होते ही उस शत्रु की परम हितैषिणी अविद्या-नटी आ धमकती है और अपनी वृत्ति की रस्सी से उस जीव को बाँध लेती है। तब तो वह जीव अविद्या की रस्सी से जकड़ा हुआ भ्रम की छटपटाहट में पड़ जाता है। फिर जब कभी भाग्यवशात्

उसको प्रमाण की ज्वलन्त अग्नि मिल जाती है, तब तो वह पहले उससे उस आवरण की झाड़ी को जलाता है। फिर उस अविद्या-नटी को भी उसकी वृत्तिरूप रस्सी के साथ ही जलाकर ख़ाक कर देता है। अविद्या के नाश होते ही उस जीव का परम मित्र अन्तःकरण अपनी वृत्ति की दृढ़ रस्सी पुनः दोबारा दे देता है। उस रस्सी को पाकर वह जीव अपने विषय-शत्रु को झट से बाँध लेता है और उसको अपने अधीन करके अनुकूल बना लेता है, और लगता है उससे लाभ उठाने।

प्रिय जिज्ञासु महाशयो! यह तो भ्रमात्मक अप्रमा वृत्ति का वर्णन हुआ; अब संशय वृत्ति का हाल सुनिये!—

जब यह जीव अपने अंतःकरण की वृत्ति-नेत्र से किसी प्रतिबन्ध के कारण अपनी इच्छित वस्तु को स्पष्ट नहीं देख सकता, तब तो उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं। बस, इतने ही में अविद्या की दाल गल जाती है। तब तो वह इस जीव पर धावा बोल देती है। जब वह इस पर चढ़ाई करती है, तब प्रथम इसके अन्तःकरण की वृत्ति-नेत्र को फोड़ डालती है, फिर इस जीव को संशय के आकाश में टाँग देती है। इस बात को तो सभी

जानते हैं कि जब अँधेरी रात में किसी ठूँठ वृक्ष पर दृष्टिपात होता है, तब उसे पूरा-पूरा न देखने के कारण ऐसा विकल्प हो जाता है कि यह स्थाणु है ? या पुरुष है ? इसीको तो संशय कहते हैं। इस संशय के आकाश में लटके हुए बेचारे जीव की वैसी ही दशा हो जाती है, जैसी 'त्रिशङ्कु' की हुई थी, जो न तो नीचे आ सकता था और न ऊपर को ही जा सकता था। अजी !-उस समय तो यह जीव यह निश्चय ही नहीं कर सकता है कि यह सचमुच स्थाणु ही है या पुरुष है। यह संशय तो अविद्या की ही वृत्ति से होता है। अजी ! यह केवल व्यवहार ही में नहीं होता, अपितु यह परमार्थ में भी इस प्रकार से हुआ करता है कि मैं ब्रह्म हूँ, या जीव हूँ ? यह संसार मिथ्या है, या सत्य है ? इत्यादि। यह अप्रमावृत्तिरूप संशय भी प्रमावृत्ति के द्वारा नष्ट हो जाता है।

अरी पापिनी अविद्या ! तुझमें तो किंचिन्मात्र भी दया नहीं है। अरी ! तू तो इस जीव को संशय की दशा में भी नहीं रहने देती, बल्कि तू तो इससे उलटा निश्चय—विपरीत ज्ञान—करा डालती है। तेरे ही कारण यह जीव स्थाणु को चोर अथवा रस्सी को सर्प मान बैठता

है। इतना ही नहीं, अपितु वह तो उससे काँपने तथा भागने भी लगता है। तेरी ही करामात से कड़ाके की धूप को नदी समझकर प्यासे मृग दौड़ पड़ते हैं। अधिक कहाँ तक कहूँ, तूने ही इस जीव के लिये ब्रह्म को जगत-रूप से कर डाला है। अरी अविद्या वञ्चकी! तेरे ही कारण यह जीव अपने को भी उलटा जान रहा है। इसने तो अपने शुद्ध, अजन्मा, अविनाशी एवं आनन्दस्वरूप को मलिन, जन्म-मरण वाला तथा दुःखरूप निश्चय कर लिया है। इसी को तो विपरीत भावना या विपर्यय कहते हैं। चूँकि यह विपरीत भावना भी अविद्या की ही वृत्ति है, इसलिये यह भी अप्रमा ज्ञान ही है।

ऐ अविद्या-नटी! यद्यपि यह सब तेरी ही लीला है, तथापि खबरदार! यह याद रखना!—लिखने-पढ़ने, कहने-सुनने तथा मनन-निदिध्यासन आदि किसी भी उपाय से जब इस जीव को प्रमावृत्ति मिल जायगी, जब तेरी फोड़ी हुई अंतःकरण की वृत्तिरूपी आँख नीरुज हो जायगी, उनकी रोशनी ठीक हो जायगी; तब तो तेरे बने-बनाये सब काम बिगड़ जायँगे, तेरी सब कलई खुल जायगी, तेरा कपट का भंडा फूट ही जायगा। यह

प्रमावृत्ति की आँख तो तेरे लिये विषैली बन जायगी, उसके तेरे ऊपर पड़ते ही तू मर जायगी। ऐ अन्धकारमयी ! तू तो उस प्रखर ज्योति के सामने हरगिज़ नहीं ठहर सकेगी, उससे तो तेरा सत्यानाश हो जायगा, और जीव आनन्द की वंशी बजाने लगेगा। वह तो शान्ति, विश्राम और परम कल्याण को प्राप्त होगा।

भ्रम, संशय और विपर्यय की वृत्तियाँ तो बाधित—मिथ्या—होने से अप्रमावृत्ति कही गयीं, परन्तु स्मृति-ज्ञान तो बाधित नहीं है। तो क्या वह प्रमाज्ञान कहा जायगा ? जी नहीं, यद्यपि वह बाधित नहीं है, तथापि वह अविद्या की ही वृत्ति से होता है; इसलिये वह भी अप्रमा ही है। जब कि किसी वस्तु का स्मरण होता है, तब तो उस वस्तु का वृत्ति से साक्षात् सम्बन्ध होता ही नहीं, बल्कि केवल उसकी स्मृति ही हो आती है। चूँकि वह स्मृति-ज्ञान अनुभवजन्य ज्ञान के संस्कार से होता है, अर्थात् जब पहले किसी प्रमाण के द्वारा विषय का ज्ञान हो जाता है, तब फिर उस ज्ञान का संस्कार अन्तःकरण में पड़ जाता है, और उस संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति होती है। इस रीति से स्मृतिज्ञान न तो प्रमाण-जनित है,

और न पूर्व का अज्ञात है, अपितु वह तो ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न हुआ अविद्या की वृत्ति से होता है, इसलिए वह अप्रमाज्ञान है। क्योंकि स्मृति की अप्रमावृत्ति स्मरणीय विषय से साक्षात् सम्बन्ध न रखकर अन्तःकरण में ही उस विषय के आकार की होती रहती है, अतएव उसको परोक्ष अप्रमाज्ञान कह सकते हैं।

प्रिय पाठको! यह आध्यात्मिक विषय बड़ा गहन है, इसलिये इसके साफ़-साफ़ समझ में आ जाने के लिये यथेष्ट चेष्टा की जा रही है। कहीं-कहीं जो विषय की पुनरुक्ति हो रही है, उसको विषय-सरलता के ही लिये समझना चाहिये।

मेरे प्रिय आत्मन्! पूर्वोक्त अप्रमावृत्ति भी दो प्रकार की समझनी चाहिये; एक यथार्थ अप्रमा और दूसरी अयथार्थ अप्रमा। इन दोनों में से जो भ्रम, संशय एवं विपर्ययरूप अप्रमावृत्ति है, वह अयथार्थ प्रमा है, क्योंकि ये भ्रमादि तो व्यवहार या परमार्थ में कहीं भी यथार्थ ज्ञान होने ही नहीं देते। ये तो जीव को सर्वदा संशय, भय, मोह और शोकादि में डालते रहते हैं। परन्तु स्मृति-ज्ञान तो यथार्थ अप्रमा है। यह तो जीव की

परम हितैषिणी, अत्यन्त कल्याणकारिणी है, क्योंकि यह जीव व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक किसी विषय को भी जब एक बार अनुभव कर लेता है, तब उसको यह स्मृति रूप यथार्थ प्रमा बार-बार याद दिलाती रहती है। उसकी आवृत्ति कराती रहती है; उसमें उत्साह बढ़ाती रहती है।

व्यवहार और परमार्थ की वजह से अयथार्थ प्रमा दो प्रकार की हो गयी है। जब सांसारिक पदार्थों में संशय, भ्रम या विपर्यय होने लगता है, तब 'व्यावहारिकी अयथार्थ अप्रमा' कहलाती है। जैसे सीपी में चाँदी का अथवा रस्सी में सर्प का भान इत्यादि। और जब परमार्थ के बारे में भ्रमादि हो जाते हैं, तब तो 'पारमार्थिकी अयथार्थ अप्रमा' कहलाती है। जैसे, ब्रह्म में नानात्व जगत् का, और कूटस्थ आत्मा में कर्ता-भोक्तापन की प्रतीति, इत्यादि।

स्मृतिरूप यथार्थ अप्रमा को भी इन व्यवहार तथा परमार्थ ने ही दो कर डाले हैं। जब सांसारिक अनुभूत विषय याद पड़ने लगता है, तब वह स्मृति 'व्यावहारिकी यथार्थ अप्रमा' कही जाती है। जैसे पूर्व-परिचित

मित्र, महात्मा, पुस्तक या किसी और ही वस्तु का स्मरण हो जाता है। और जब पूर्व अनुभूत पारमार्थिक पदार्थ याद पड़ता है, तब तो वह 'पारमार्थिकी यथार्थ अप्रमा' कही जाती है। जैसे आपने पहले सद्गुरु तथा सत् शास्त्र के द्वारा इस बात का निश्चय एवं अनुभव कर लिया है —'यह जगत् मिथ्या है और मैं ही सद्रूप ब्रह्म हूँ'। फिर जब यही बात बार-बार याद आने लगे, तो उसको 'पारमार्थिकी यथार्थ अप्रमा' समझनी चाहिये। बार-बार क्या, एक बार भी यदि याद आ जावे, तो भी वह एक बार तो 'पारमार्थिकी यथार्थ अप्रमा' कही ही जायगी।

ऐ मेरे प्रिय जिज्ञासुगण! ओ मेरे निजात्मन! आप सच्चे सुख के उपासक हैं, आप अमरता प्राप्त करना चाहते हैं, इसलिये श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित छः प्रमाणों के द्वारा आप प्रमावृत्ति उत्पन्न करें। प्रकट करें उस ज्ञानरूपा को, जो कि आपके हृदय में प्रकाश करनेवाली है। अजी! हम यहाँ व्यावहारिकी प्रमावृत्ति को नहीं कह रहे हैं,अपितु हमारा मतलब तो यहाँ पारमार्थिकी, प्रमावृत्ति से ही है। उस वृत्ति से इस जगत् को आप एकदम

मिथ्या कर दें। इसको इन्द्रजाल के समान झूठा समझकर यह अनुभव करें कि 'मैं ब्रह्म हूँ, अनन्त हूँ; मुझ पूर्ण में कभी भी अपूर्णता नहीं आने की। मैं सत्य हूँ, चैतन्य हूँ, आनन्द हूँ, शुद्ध हूँ, बुध हूँ, मुक्त हूँ तथा निरञ्जन हूँ', इत्यादि-इत्यादि। अन्तःकरण की वृत्ति-द्वारा जब इस प्रकार के अनुभव हो जाने के बाद भी जो प्रारब्ध की प्रबलता से या किसी और भी कारण से जगत् की सत्यता का भान होने लगे, अथवा अपने अपरिच्छिन्न तथा निर्विकार स्वरूप में सीमा या किसी प्रकार का विकार प्रतीत होने लगे, तब कुछ क्षति नहीं। आपको घबराने की कोई भी आवश्यकता नहीं है।

अजी! आपको तो ऐसे अवसर पर अविद्या की वृत्ति से भी कुछ सहायता ले लेनी होगी। आप कह सकते हैं कि ऐसे अवसर पर अविद्या की किस वृत्ति से सहायता लेनी पड़ेगी? क्या भ्रम, संशय या विपर्ययरूप 'अयथार्थ अप्रमा वृत्ति' की शरण में जाना होगा? जी नहीं, हरगिज़ नहीं। इस वृत्ति को तो आपको त्यागना होगा; इसके आश्रय से तो आप बरबाद हो जायँगे। जबकि यह वृत्ति व्यवहार में आ जाती है, तब तो यह शोक-

सागर में डुबो देती है। ओफ़! यह तो जीव को संतापाग्नि में फेंक देती है। तब यह मोक्ष-मार्ग में क्यों कर मदद देने लगेगी? अतएव आपको स्मृतिरूप 'यथार्थ पारमार्थिकी अप्रमा वृत्ति' का सेवन करना होगा।

यद्यपि 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा ध्यान करना, इस प्रकार की बार-बार आवृत्ति करनी, इसका बारम्बार चिन्तन करना भी अविद्या ही है; क्योंकि इसमें भी तो द्वैत की गंध आ ही जाती है, और द्वैत का भान ही तो अविद्या है? जबकि मैं ब्रह्म ही हूँ, तब इसके बार-बार कहने या स्मरण करने की आवश्यकता ही क्यों होने लगी? जो मैं हूँ, सो तो बिना चिन्तन के भी रहूँगा। जो अपने मनुष्यपने का अभिमानी पुरुष है, उसे क्या 'मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार की माला फेरना पड़ती है? या कहीं मेला बाज़ार में इस विचार से कि 'मेरा मनुष्यत्व का निश्चय कहीं भूल न जाय' अपने मनुष्यपने का स्मरण करते रहना पड़ता है?

जी नहीं। उसको तो बिना चिन्तन, बिना ध्यान के ही वह अहंकार, वह निरभिमान दृढ़ बना रहता है। वैसे ही

जिसको अपनी अमरता का, अपनी नित्यता तथा मुक्तता का एक बार भी साक्षात्कार हो गया, एक बार भी निश्चय हो चुका; उस तत्ववेत्ता पुरुष का वह निश्चय, वह विचार तो कभी बदलने का ही नहीं। वह तो अब उसका स्वरूप हो चुका। ब्रह्म का बार-बार स्मरण करना तो इसलिये कहा गया कि शायद प्रारब्धादि कारणों से अपने स्वरूप का दृढ़ निश्चय न हो पाया हो। तो क्या 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की बारम्बार आवृत्ति करने से, नित्य-निरन्तर चिन्तन, निदिध्यासन करने से वह ब्रह्म-ज्ञान दृढ़ हो जायगा ? इसलिये ज्ञान की दृढ़ता के लिये, अथवा जीवन-मुक्ति के विशेष सुख के लिये स्मृतिरूप अविद्या की 'पारमार्थिकी यथार्थ अप्रमा-वृत्ति की आवश्यकता पड़ती ही है।

हैं इन्द्रियाँ तन से परे, अरु इन्द्रियों से मन परे।
प्रज्ञा अलग मन से सदा, अरु बुद्धि से आनम परे॥
है आतमा तू ही अरे! तेरे अधीन रहे बुधी।
बुधि के अधीन रहे सदा मन, क्या तुझे नहिं है सुधी॥१॥

मन के वशी सब इन्द्रियाँ, रहकर घुमाती गात हैं।
इस रीति से तू श्रेष्ठ, तेरा सर्व पर आघात है॥

कर ले अरे ! सबको वशी, निज रूप को पहिचानि के ।
होगा तभी बिन काम के मन स्वच्छ, शासन मानि के ॥२॥

मंत्री विचार शमादि सेना, शस्त्र ज्ञान–विराग के ।
ले काम का तू कर पराजय, सहित ईर्षा-राग के ॥
मत डर तनिक, होगी विजय, तेरी समर-स्थल काय में ।
उत्साह कर, पुरुषार्थ कर, मत चूक तनिक उपाय में ॥३॥

यह जीव को संसृति-भवँर में, है फँसाता काम ही ।
नर ! जीत ले तू काम को मन से मिटा दे नाम ही ॥
यह दुष्ट पेट्ट काम-रिपु, संकल्प से उपजायगा ।
संकल्प को तज दे, तभी यह काम भी मिट जायगा ॥४॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

असूया

पराये अवगुणों को—दोषों को—देखने, निरीक्षण करने को 'असूया' कहते हैं। यह असूया एक विचित्र विषैली कटारी है। यह जिसके हृदय में पैठ जाती है, शान्ति, क्षमा, मैत्री, करुणा, मुदिता, समता, अहिंसा

आदि गुणों को काट-काटकर उसके हृदय से निकाल बाहर करती है। इतना ही नहीं, अपितु यह द्वेष का घाव करके उस पर अशान्ति का नमक लगाकर हृदय को नरकालय बना देती है। अपने आनन्दस्वरूप से विमुख करके जन्म-मरण के चक्कर में डाल देती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञानोपदेश का अधिकारी क्यों समझा ? इस बात को भगवान ने ही अपने श्रीमुख से गीता के नवें अध्याय में कहा है—'हे अर्जुन! इस गोपनीय ज्ञान को मैं विज्ञान के सहित तुझसे इसलिये कहता हूँ कि तू असूया से रहित है, अर्थात् तेरा स्वभाव ही दूसरों का गुणग्राही है; तूने दूसरों के अवगुण-निरीक्षण-द्वारा अपने अन्तःकरण को कलुषित (अपवित्र) नहीं किया है, इसलिये तेरा हृदय इस पवित्र ज्ञान के लिये योग्य-पात्र-है।' अठारहवें अध्याय में तो भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि 'इस गीताज्ञान का कथन उन लोगों के प्रति हरगिज़ नहीं करना चाहिये, जिनकी मुझमें दोषदृष्टि है।

इस घोर कलिकाल में आजकल बड़ी अन्धाधुन्ध मच रही है। मनुष्य एक दूसरे की उन्नति नहीं देख सकता,

लोग दूसरों में दोष निकालने तथा दूसरों की निन्दा करने में कटिबद्ध हो रहे हैं। जैसे गाय, भैंस आदि पशुओं का भोजन बिना जुगाली (पागुर) किये नहीं पचता, वैसे ही निन्दकों का अन्न भी तबतक नहीं पचता जबतक इस दरवाज़े से उस दरवाज़े तक जाकर दूसरों की शिकायत भरपेट नहीं कर लेते; मानो उन्होंने दूसरों की निन्दा, चुगुली को बदहज़मी की दवा ही समझ लिया हो। ब्राह्मण ब्राह्मण की निन्दा करते हैं। विद्वान विद्वानों की निन्दा में भरपूर दोष निकालते हैं। एक कवि दूसरे कवि की कविता को दोषपूर्ण बताकर उसकी दिल्लगी उड़ाता है। एक गायक दूसरे गायक की कला में दोष बताकर उसकी बदनामी करता है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र असूया और निन्दा का ही साम्राज्य है। यहाँ तक कि साधू संन्यासी तथा अच्छे कहलानेवाले लोग भी इस रोग से मुक्त नहीं हैं।

निन्दक मनुष्य सर्वदा मात्सर्य (डाह), द्वेष, ईर्ष्या तथा क्रोध की अग्नि में जला करते हैं और वे ईश्वर, महात्मा, कवि, विद्वान्, साधु, संन्यासी में दोष निकालने पर ही उतारू रहते हैं। जिस प्रकार मक्खियाँ सुन्दर-से

सुन्दर अङ्गों में भी व्रण (घाव) ही ढूँढ़ा करती हैं, वैसे ही निन्दक रमणीक-से-रमणीक स्थान में, अच्छे-से-अच्छे समाज में तथा सच्चरित्र-से-सच्चरित्र व्यक्ति में भी दोष ही ढूँढ़ते फिरते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने चौपाई के 'खल गह अगुन साधु गुनगाहा' इस चरण में निन्दकों का ही खल नाम से संकेत किया है। इनके बुरे विचार, बुरी भावनाएँ, अश्लील वाणी तथा गन्दे आचरण, वायुमण्डल एवं समाज को जितना दूषित कर डालते हैं, वह अकथनीय है। इनके वचन-सर्प श्रवण-रन्ध्र के द्वारा जिसके हृदय में प्रवेश कर जाते हैं, उसका हृदय अशान्तिरूप विष की ज्वाला से व्याकुल हो उठता है, मानो उसे मृगी आगयी हो। ऐसे दुष्टों का सङ्ग साक्षात् मृत्यु के समान है; इसीसे गोस्वामीजी ने कहा है—

वरु भल वास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥

इनका संग निर्भीक को भीरु, उदार को कृपण, पुरुषार्थी को आलसी, उत्साही को सुस्त तथा धर्मात्मा को पापात्मा बना देता है। ये भगवच्चरित्ररूपी विमल विधु के लिये राहु, सज्जन गुणरूपी सूर्य के लिये

बादल, एवं शान्ति-किरणों से विकसित हृदय-कमलों के लिये तुषार बन जाते हैं। कल्याणार्थी जीवों को इनका साथ कभी नहीं करना चाहिए; साथ की तो बात ही क्या, इनके दर्शन, स्पर्श एवं भाषण से भी बचे रहना चाहिये।

मेरे आत्मन्! चित्त को किञ्चित् स्थिर करके सोचो, विचारो तथा ध्यान तो दो। तुम किसकी निन्दा कर रहे हो? आत्मा की अथवा अनात्मा की? आत्मदृष्टि से तो यह सारा संसार ही आत्मा है, ब्रह्म है, ईश्वर है, अपना निजरूप है। इसलिये हे प्यारे! तुम संसार की निन्दा नहीं कर रहे हो, किसी व्यक्ति की भी नहीं; बल्कि तुम जगन्नियन्ता निर्विकार परमेश्वर की निन्दा कर रहे हो। तुम अपने आत्मा को ही नीचे ले जा रहे हो, अपने हाथों से अपना घात कर रहे हो। आत्मा (परमात्मा) तो अजर है, अमर है, निर्दोष है, वह तुम्हारा सच्चा स्वरूप है। तुम्हारे दोषारोपण से उसमें किञ्चिन्मात्र भी बट्टा नहीं लगने का, कुछ भी अन्तर नहीं पड़ने का। सम्पूर्ण जीव परमात्मा के सनातन अंश हैं। उस अनन्त के ही स्वरूप हैं। तुम भी उसी अनन्त सागर की एक तरङ्ग हो। किसी भी जीव

से द्वेष न करो, नहीं तो गल जाओगे, सड़ जाओगे, मर जाओगे।

यदि हम पृथिवी को लात मारते हैं, तो उलटे हमारे ही पैर में चोट लगती है। यदि हम चन्द्रमा पर थूकते हैं, तो वह थूक हमारे ही मुख पर आकर गिरता है। वैसे ही दूसरे की निन्दा करनी अपनी ही निन्दा करनी है, दूसरे का नाश करना अपना ही नाश करना है।

प्यारे! यदि तुम यह कहो कि हम तो आत्मा या परमात्मा की निन्दा नहीं करते, अपितु हम अनात्म पदार्थ की ही निन्दा करते हैं, तो इससे तुमको मिलता ही क्या है? अनात्म पदार्थ तो स्वयं मिथ्या है, इसने तुम्हारा बिगाड़ा ही क्या है? मिथ्या पदार्थ के पीछे पड़कर क्यों समय नष्ट करते हो? व्यर्थ का कष्ट क्यों मोल लेते हो? भला बाल की खाल निकालने से तुम्हें क्या मिलेगा?

अरे भलेमानस! कहीं अँधेरी रात की रस्सी का सर्प मारा जाता है? यह अनात्म पदार्थ तो एक प्रगाढ़ स्वप्न है। यदि पूछो कि प्रगाढ़ कैसे? तो इसलिये कि

स्वप्न के पदार्थों की स्मृति तो जागने पर बनी भी रहती है, परन्तु यह जगत् तो सो जाने पर बिल्कुल ही विस्मरण (विलीन) हो जाता है। भूतकाल के पदार्थ बिल्कुल मिथ्या हो गये, तथा वर्तमान काल के अभी भूतकाल के गाल में जानेवाले हैं और भविष्य काल के कल्पनामात्र होने से मिथ्या ही हैं, तब इन पर आस्था कैसी? इन पर विश्वास ही कैसा? इन मिथ्या पदार्थों से द्वेष ही क्यों होने लगा? अथवा प्रेम ही क्यों? गोस्वामी तुलसीदास जी ने कैसी महत्त्वपूर्ण बात कही है।—

सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअ, देखिअ सो अविवेक॥

काकभुशुण्डीजी गरुणजी से कह रहे हैं कि 'हे तात! सुनो, माया के रचे हुए गुण और दोष अनेक हैं। किन्तु यथार्थ गुण तो यह है कि गुण और दोष, इन दोनों को न देखे, क्योंकि इनका देखना ही अविवेक है।' कारण यह है कि मायारचित पदार्थ कहीं भी सच्चे नहीं पाये जाते।

एक मदारी आता है, वह अपनी बाँसुरी फूँकता है,

उस बाँसुरी की मनोहर ध्वनि को सुनते ही नर-नारी, बाल-वृद्ध इकट्ठे हो जाते हैं। बस, फिर क्या कहना है ? उस मायावी ने विचित्र खेल किया। उसने अपनी माया फैलायी, लोग एकटक होकर देखने लगे, मानो चित्र में खिंचे हुए हों। देखते-देखते उसने अपना पुत्र तैयार कर लिया और उसको ज़मीन पर लिटाकर चादर से ढक दिया। फिर उसने एक कटार निकाली और बड़ा भयंकर कर्म किया। ओफ़! उसने तो उस बालक के गले में उसी कटार को भोंक दिया। हाय! हाय! यह तो बड़ा निर्दयी है, अत्यन्त क्रूर है। इसने तो बालक-वध जैसा महापातक कर डाला। अपने पुत्र की ही जान ले ली। भला, इससे बढ़कर अवगुण और हो ही क्या सकता है ?

अच्छा, ज़रा फिर देखिये तो, यह अब क्या करता है। अरे! इसने तो बात की बात में एक आम का पेड़ तैयार कर दिया। अहा हा !!! यह सुन्दर पेड़ फलों से कैसा लदा है! देखिये न, ये फल तो पके हुए हैं! अजी, इधर तो देखिये, यह कैसी भीड़ है ?

यह तो पथिकों का समुदाय है।

ये मुसाफिर कहाँ से आ गये ?

आ कहाँ से गये ? इस मदारी की ही तो सब करामात है।

अरे ! एक ओर यह क्या है ?

हौज़ है, हौज़।

उसमें क्या है ?

क्या आप नहीं जानते कि हौज़ में जल रहता है ?

हाँ ठीक, यह तो जल ही है। परन्तु आया कहाँ से ?

आया कहाँ से ? यह सब तो इस मायावी की ही माया है।

देखिये न, अब तो यह मदारी फलों को तोड़-तोड़ कर पथिकों को देने लगा और वे सब लगे खाने। अजी ! वे सब तो बात की बात में सारे फल खा गये, परन्तु अब उन्हें प्यास लगी है, इसलिये वे पानी माँग रहे हैं। देखिये, अब यह मायावी पानी भी पिलाने लगा और सब मुसाफिर पानी पी-पीकर तृप्त हो गये, तथा पेड़ के तले जाकर छाया में लेट रहे।

अजी ! यह तो बड़ा उदार भी है, बड़ा दानी है, इसमें तो अटूट दया भरी पड़ी है। देखिये न, इसने धूप के मारे तथा थके-माँदे इन पथिकों को कितना सुख पहुँ-

चाया? इनका कितना उपकार किया ? इससे बढ़कर गुण ही क्या होगा ?

तुलसीदासजी ने भी कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इतने ही में वह मदारी अपनी बाँसुरी फिर फूँकता है और उसका लड़का जी उठता है। लो! सारा खेल गायब। न तो पथिक है, न वह लड़का है और न वह आम का पेड़ ही है। अब तो अकेला वह मदारी और दर्शकों का समूह ही बच गया है। क्या आप बतला सकते हैं कि उस मायावी ने अपने लड़के को सचमुच ही मार डाला था या उसने वास्तव में पथिकों को आम के फल खिलाये थे ?

इस पर आप यही कहेंगे कि अजी! इनमें से तो एक भी बात सत्य नहीं थी, क्योंकि जब वह लड़का ही झूठा था, जब वहाँ पर न कोई पेड़ था और न पथिक ही थे, तो मारना और खिलाना कैसा ? तब तो उस पुरुष में हिंसारूपी दोष तथा दयारूपी गुण का व्यर्थ ही आरोप किया गया था न ? जी हाँ, यह सब तो

उसकी झूठी करामात थी। वहाँ तो वास्तव में कुछ हुआ ही नहीं। उस बेचारे पर गुण या दोष का लादना निरा पागलपन है, अविवेक है।

प्रिय मित्रगण! तो क्या इस जगतरूपी नाट्य-गृह में जगन्नियन्ता सूत्रधर भगवान् की माया ने अपने गुणों द्वारा झूठमूठ के गुण-दोष नहीं रच डाले हैं? क्या किसी भी प्राणी पर दोषारोपण करना पागलपन नहीं है? क्या इसे अविवेक नहीं कहा जा सकेगा? इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

गुन यह उभय न देखिअ, देखिअ सो अविवेक।

प्यारे! यदि तुम बिना देखे नहीं रह सकते, यदि तुम्हें देखने की आदत ही पड़ गई है, तो देखो अपने दोषों को। अपने अवगुणों का बार-बार निरीक्षण करते रहो और उनको एक एक करके निकालते रहो। जिस दिन तुम्हारे सम्पूर्ण अवगुण निकल जायँगे, उसी दिन तुम्हारे हृदय के अन्दर समस्त गुण आ बसेंगे। जब किसी बोतल का जल निकालकर फेंक दिया जाता है, तब उसमें हवा अपने आप भर जाती है। उसी प्रकार दोषों के निकलते ही तुम्हारे अन्तःकरण में विवेक,

वैराग्य, शम, दम, क्षमा, मैत्री, विचार तथा शान्ति आदि गुण आ-आकर अपना डेरा जमा लेंगे। जैसे जब कहीं बादशाह की पलटन जाकर खेमा डाल देती है, तब पीछे से स्वयं बादशाह भी वहाँ पहुँच जाता है, वैसे ही तुम्हारे हृदय में शमादि गुणों के आते ही दिव्यस्वरूप परमेश्वर भी आ विराजेंगे। उनके आते ही तुम्हारा सम्पूर्ण शोक दूर हो जायगा, तुम कृतकृत्य हो जाओगे, देवमूर्ति बन जाओगे, समस्त जगत तुम्हारा आत्मा बन जायगा तथा चराचर तुमसे प्रेम करने लगेगा। अतएव तुम आज ही एक कवि के इस मंत्र को पढ़ लो—इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। इस मंत्र से तुम्हारी सचमुच बड़ी भलाई होगी—

बुरा जो ढूँढ़न मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

भाइयो! यदि तुम्हें दूसरे की ओर ही देखना है, तो उनके गुणों को देखो, कहो, सुनो और अमल में लाओ। इससे तुम्हें बड़ी शान्ति मिलेगी, विश्राम प्राप्त होगा, तुम्हारे मन में प्रसन्नता आ विराजेगी। दूसरों का दोष देखना महापाप है। जब तुम दूसरे का एक अव-

गुण देखने या कहने लगते हो, तब तुम्हारे अन्दर उसके साथ ही घृणा, द्वेष, क्रोध, अभिमान, अशान्ति इत्यादि अनेक अवगुण आ जाते हैं, जिससे तुम्हारा मन-मन्दिर दूषित—अपवित्र—हो जाता है। तुम उस आनन्दस्वरूप भगवान से वंचित रह जाते हो; तुम्हारा हृदय दुःखालय बन जाता है, तुम परम दुखी हो जाते हो। भला, अपने आपको दुःख-जाल में फँसाना, अपने आप ही शोक-सागर में गोता लगाना, कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

अरे! यह तो भारी भूल है; यह निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है? प्यारे, एक ईश्वर के सिवा कोई और निर्विकार थोड़े ही है। भला, तुम पहले अपने ही जीवन का निरीक्षण करो, जब से होश सँभाला, तब से क्या तुम बिलकुल निर्दोष ही हो? क्या तुमसे कोई भी पाप नहीं बना है? इस पर तुम शायद यही कह सकते हो कि अजी, मैं बिलकुल विशुद्ध तो नहीं हूँ; परन्तु मुझसे कोई महापातक तो नहीं घटा है। मुझसे तो बहुत ही साधारण पाप हुए हैं, इसलिये मैं उन व्यक्तियों की शिकायत किया करता हूँ, जो महापातकी हैं, जिनमें बहुत-से अवगुण हैं।

मैं मान लेता हूँ कि वे तमसे अधिक पाप करनेवाले

हैं, जिनकी तुम प्रायः निन्दा किया करते हो। परन्तु यह तो बतलाओ कि तुमने पूर्व जन्मों में कितने पाप किये हैं? अजी महाशय, पूर्व जन्मों को कौन जानता है? कोई सर्वज्ञ थोड़े ही है? जब तुम यह जानते ही नहीं, तब दूसरे को पापी कहने का तुम्हें अधिकार ही क्या है? सम्भव है, पूर्व जन्मों में तुम्हीं से अधिक पाप हुए हों, तथा जिनको तुम अभी पापी समझते हो, वे पूर्व जन्म के पुण्यात्मा हों और किसी कारण-विशेष से उनसे पाप हो रहे हों।

अरे भाइयो! इन जीवों के अनादि काल से अनगिनत जन्म होते आ रहे हैं, और उन अनगिनत जन्मों में इनसे अनन्त कर्म भी होते आ रहे हैं, और उन अनगिनत जन्मों में इनसे अनन्त कर्म होते भी आये हैं। न तो इनके पुण्य की सीमा है, न पाप की। इसलिये किसी को निरा पापी या केवल पुण्यात्मा समझ लेना बड़ी भूल है। पुण्य और पापों की निवृत्ति सिवा भगवद्भजन के हो ही नहीं सकती। एक परमात्मा की प्राप्ति से ही जीव पुण्य और पापों से छूटकर जन्म-मरण से रहित हो सकता है।

थोड़ी देर के लिये मैं मान लेता हूँ कि तुम बड़े भारी पुण्यात्मा हो। इससे तुम्हें कौन-सा बड़ा भारी लाभ हो गया ? अपने पुण्यों का फल भोगने के लिये तुम्हें जन्म लेना ही पड़ेगा और तुम जब अपने पुण्य-फल से स्त्री, पुत्र, धन और पशु आदि भोगों को पा जाओगे, तब तुम अपने को बड़ा भारी ऐश्वर्यवान्, सम्पत्तिशाली तथा बलवान् मानने लगोगे, जिससे तुम्हें महा अभिमान हो जायगा और फलतः तुम जीवों को सताने लगोगे तथा और भी अनेक प्रकार के अत्याचार करने लगोगे। अपने इन दुष्कर्मों को भोगने के लिये तुम्हें दूसरा शरीर अवश्य धारण करना पड़ेगा।

अब कहो, तुम्हारे पुण्यों ने तुम्हें किस दशा पर पहुँचाया ? तुम्हारा धर्मात्मापन कहाँ गया ? इसलिये मेरे प्रिय आत्मन् ! तुम अपने धर्मात्मापन के अभिमान को छोड़कर सभी जीवों पर कृपा-दृष्टि रखो, उनके साथ हृदय से प्रेम करो, उन्हें अपना समझो, उनके अवगुणों तथा उनके अपकारों को भूल जाओ।

गोस्वामीजी के शब्दों में भक्त-शिरोमणि भरतजी ने निन्दकों को महापापी ठहराया है। वे महापातकियों को

गिनाते हुए कहते हैं—

वेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं।
पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
तिन्हकै गति मोहिं संकर देऊ।
जौं जननी यहु जानउँ भेऊ॥

हे माता! जो वेद को बेंचकर अर्थात् अर्थ-प्राप्ति के लिये दूसरों को वेद-शास्त्र सुनाकर धर्म को नष्ट कर देते हैं, तथा जो पिशुन (निन्दक) दूसरों के अवगुणों का कथन करते हैं, उनकी जो घोर गति होती है, वही गति शङ्करजी मुझे दें, यदि श्रीरामचन्द्रजी के वनवास के भेद को मैं जानता होऊँ, या उसमें मेरी सम्मति ही हो। गोस्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है कि चुगलखोरों का जन्म चमगादड़ की योनि में होता है। जैसे—

सबकी निन्दा जे नर करहीं।
ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥

भाइयो! पाप-पुण्य का निर्णय करना कुछ साधारण बात भी नहीं है। यह तो बड़ी जटिल समस्या है। श्रीभगवान् ने गीता में कहा है— 'कर्म क्या है? तथा अकर्म क्या है? इस विषय में पण्डितजन भी मोह को प्राप्त हो

जाते हैं।' भगवान् के इस कथन के अनुसार तुम किसी को सहसा दोषी कैसे ठहरा सकते हो ? जिसको तुम दोष समझते हो, शायद वह गुण ही हो। हो सकता है कि उसके कर्तव्य को देखने या विचारने में तुम्हारी ही भूल हो, अथवा उस बेचारे ने अपनी समझ में अच्छा ही किया हो। कर्म करते समय उसकी नीयत बिल्कुल शुद्ध रही हो और वह दोष उससे अनजान में बन गया हो। तब उसे पापी कहने अथवा दोषी ठहराने का तुम्हें अधिकार ही कहाँ रह जाता है ?

पाप-पुण्य का निर्णय तो प्रायः नीयत पर ही किया जाता है। फिर मान लो, किसीने जान-बूझकर सचमुच ही पाप किये हैं, तो उसकी शिकायत करने से तुम्हें मिल ही क्या जाता है ? क्या तुम्हारी निन्दा से वह सुधर जायगा ? नहीं, नहीं; याद रक्खो, सम्भव है कि अपनी निन्दा सुनकर वह भड़क उठे और तुम्हारा अनिष्ट करने के लिये तुम्हारे पीछे पड़ जाय। यदि ऐसा हुआ, तो तुम्हारी कितनी हानि हुई ? उसे पीछे पड़े देख तुम्हें भी क्रोध आ ही जायगा और तुम भी उसकी जान को लग जाओगे। लो ! अब मचा द्वन्द्व, बढ़ी कलह। इससे भाई

किसी की 'असूया' करना छोड़ दो। हाँ, यदि तुम्हें उसे कुछ कहना ही है, तो पहले उससे मेल करो, उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनो। जब तुम्हारे प्रति उसकी श्रद्धा होने लगे, जब तुम यह जान जाओ कि अब यह हमारी बातों को सहर्ष सुनेगा, तब शान्ति से, धीरे से, एकान्त में, प्रेमपूर्वक उसकी त्रुटियों को उसे समझाने की चेष्टा करो। तुम्हारे इस व्यवहार का उस पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ेगा और वह अपने कर्मों पर लज्जित होगा, पश्चात्ताप करेगा, आगे के लिये सावधान हो जायगा, अपनी भूलों को सुधारने में लग जायगा। इस रीति से तुम्हारी भी भलाई होगी और उसकी भी।

यदि तुम्हारे सदुपदेशों को लोग नहीं मानते, तो तुम चिढ़ो मत। उन पर रुष्ट होकर उन्हें बुरा-भला मत कहने लगो, किन्तु अपनी शान्ति में डटे रहो। लोग नहीं मानते, तो इससे तुम्हारा बिगड़ ही क्या जाता है? और उनका दोष ही क्या है? वे बेचारे भ्रान्त हैं। इस समय उनकी बुद्धि ठिकाने नहीं है; नहीं तो अमृत पीना कौन नहीं चाहता? अजी! हाथ में आये हुए पारस को जान-बूझकर कौन फेंक देगा? जब उनकी बुद्धि शुद्ध

हो जायगी, तब वे अपने आप ही थोड़े-से इशारे से सुधर जायँगे, अपने कर्तव्य में संलग्न हो जायँगे।

इसलिये भी तुम किसी को बुरा मत समझ बैठो कि वह तम्हारी निन्दा करता है। वह स्वयं भूला है; वह बेचारा अज्ञान से निन्दा-जैसा निन्दनीय कर्म करके अपनी आत्मा को नीचे ले जा रहा है। यदि तुम उसको बुरी दृष्टि से देखोगे, तो तुम भी उसीके समान निन्दक बन जाओगे, जिससे तुम्हारी बड़ी हानि होगी। इसलिये तुम उस पर दया करो, उसका उपकार मानो कि तुम्हारे अवगुणों के निरीक्षण में उसने अपना अमूल्य समय लगाया और तुम्हारे पापों को कह-कहकर हल्का कर दिया; तुम्हें चेतावनी दे दी कि 'आगे फिर ऐसा न करना।'

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सर्वश्रुतिशिरोरत्न विराजितपादाम्बुजम्।
वेदान्ताम्बुजमार्तण्डं तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

हरिः ॐ तत्सत्

रामाश्रम-पुस्तक-माला का ७ वाँ पुष्प—

भजन-मुक्तावली

स्वामी श्रीरामाश्रमजी परमहंस

'राम'

ॐ

श्रीगणपतये नमः

भजन-मुक्तावली

मंगलाचरण

दोहा

वन्दौं प्रथम गणेश को, शुभगुण-मंगल-धाम।
जाकी कृपा कटाक्ष ते, सफल होहिं सब काम ॥१॥
सिद्धि-सदन वाणीपते, विघ्न - विनाशनहार।
हृदय-कमल बस राम के, हरो विषम भव-भार ॥२॥

ईश-विनय

जय सगुण-निर्गुण ब्रह्म व्यापक, देव-देव विशम्भरम्।
अशरण-शरण-भव-त्रासनाशक, जयति जय करुणाकरम् ॥
सुर-संत-मनःरञ्जन असुर, खल-दुष्ट आदि निकन्दनम्।
उत्पत्ति-प्रलय थिति हेतु तुम, जय 'राम' के दुख-भञ्जनम् ॥

भजन

श्रीगुरु-चरणकमल चित लाऊँ ॥टेक॥
जाते हृदय शुद्ध हो मेरा, अविनाशी को पाऊँ ॥१॥
पद-नख-द्युतिमणिगण उजियारा, पाइ कुबुद्धि नशाऊँ ॥२॥
पद-रज नयन लगाइ विलोकूं, नीर-क्षीर बिलगाऊँ ॥३॥
गुरु-मूरति-छवि-चन्द्र 'राम' निज उर-नभ मध्य बसाऊँ ॥४॥

भजन

श्रीगुरु-चरणकमल बलिहारी ॥टेक॥
जेहि चरणन में रिधि-सिधि बिलसैं, दरश-परस सुखकारी ॥१॥
सत चित आनँद रूप मनोहर, मोह-शोक-भ्रमहारी ॥२॥
तरुण तिमिरि अज्ञान विनाशे, गुरु-मुख-वचन-तमारी ॥३॥
'राम' समुझि भव-भेषजभारी, शीश चरण-रज धारी ॥४॥

भजन

प्रभु तेरे द्वारो दीन परो ॥टेक॥
जनम-जनम के अकरम मेरे, विष-फल चहत फरो ॥१॥
तापर कलि अति नयन तरेरत, भय ते हृदय डरो ॥२॥
कुल कुटुम्ब सब सुहृद सनेही, कोउ न कष्ट हरो ॥३॥
कृपा-दृष्टि की आश 'राम' को, तिरविध ताप जरो ॥४॥

भजन

प्रभु मैं क्योंकर धीर धरूँ ? ॥ टेक ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ये अतिशय प्रबल डरूं ॥१॥
लोलुप हो विषयन में इत-उत, निशि-दिन भरमि मरूं ॥२॥
भाग्यहीन लखि सुर-नर त्यागे, पावक-शोक जरूं ॥३॥
त्यागि सकल बल-आश 'राम' अब, हरि तव चरन परूं ॥४॥

भजन

भजु शङ्कर भोला बनवारी ॥ टेक ॥
यह तो हलाहल गर बिच राखैं, वह पुतना विष चुस मारी ॥१॥
यह तो गले बिच उरग रमाये, वह अहिराज शयनकारी ॥२॥
यह तो बैल चढ़ि विपिन विराजैं, वह गउवन सँग बनचारी ॥३॥
देखि युगल छवि 'राम' मुदित मन, भक्तन के भव-भयहारी ॥४॥

भजन

हृदय बसें मुरली मनोहर आज ॥ टेक ॥
अंग-अंग छवि निरखि तिहारी, होत मदन उर लाज ॥१॥
पीताम्बर कटि अधर सु-मुरली, शीश मुकुटमणि भ्राज ॥२॥
तिरछी दृष्टि परति जेहि ऊपर, तेहि बिसरहिं सब काज ॥३॥
'राम' आस एक चरण-कमल की, तजि सब साज-समाज ॥४॥

भजन

हमें सखि अवधकिशोर मिले ॥ टेक ॥
पीताम्बर कटि नूपुर पग में, मोतिन-माल गले ॥१॥
कमल-नयन भृकुटी वर बाँकी, कुण्डल कान हले ॥२॥
केसर तिलक ललाट विराजै, शिर छवि मुकुट भले ॥३॥
'राम' मुदित लखि श्याम वदन-छवि छिन में पाप टले ॥४॥

कुण्डलिया

कवि जो कविता राम की, करैं सहित अनुराग।
प्राकृत कविता त्यागि के, ईश्वर-गुण मन लाग ॥
ईश्वर-गुण मन लाग, बसे वह ठौर इकन्ता।
और विषय सब त्यागि, भाव उर में भगवन्ता ॥
चंचलता - चित छाँड़ि, हरैं मन-पाप सभी जो।
शोक-मोह सब दूर करैं, वह भक्त कवी जो ॥ १ ॥

रोला

बाल-काल करि खेल, युवा तिय संग बिताया।
वृद्ध भये तन शिथिल, मोह अरु शोक फँसाया ॥
योग, यज्ञ, व्रत, दान, ध्यान, जप-तप नहिं भाया।
दीन-हीन यह जीव, 'राम' हरि-ध्यान न लाया ॥ १ ॥

अभय दान है दान, स्नान, मन कुटिल करै ना ।
तीर्थ, समागम संत, यज्ञ पर-वस्तु हरै ना ॥
सेवा गुरु, पितु-मातु, बड़ो तप . संत बखाना ।
परतिय मातु समान, 'राम' सुन्दर व्रत माना ॥ २ ॥

संकर सीस चढ़ाइ मातु गंगा को लीन्हा ।
वीर भगीरथ लाइ, पार निज पितृन्ह कीन्हा ॥
खलं अनन्त जग तारि, शीघ्र सुन्दर गति दीन्हा ।
धन्य-धन्य, वह 'राम', वास जो तट पर कीन्हा ॥ ३ ॥

मुनि-कुटीर कहुँ तीर, शोर कहुँ पक्षीगण के ।
कहुँ सुनाद शुभ गान, होहिं मोहहिं जन-मन के ॥
कहुँ मज्जन कहुँ पान, जाहिं जन कहुँ दरशन के ।
कहुँ परसन जल जाहिं, 'राम' अवली पथिकन के ॥ ४ ॥

बनजारा ताल

उर-मोह-तिमिर कर वासा । गुरु-हीन नहीं परकासा ॥टेक॥
गुरु-वचन स्रवन-मगु आवे । तब आतम-तत्त्व दरशावे ॥
नहिं रहे अविद्या पासा ॥ गुरु-हीन० ॥ १ ॥

गुरु जीव-ईश समझावें । अरु माया-ब्रह्म बतावें ॥
उर सोच रहे न जरा-सा ॥ गुरु-हीन० ॥ २ ॥

तन-मन-धन गुरु का मानै । नित ब्रह्मरूप करि जानै ॥
दृढ़ वचन माँहिं विश्वासा । गुरु-हीन० ॥ ३ ॥

कहैं 'राम' सुनो रे भाई ! रहु चरणकमल लव लाई ॥
हो जन्म-मरण का नाशा ॥ गुरु-हीन० ॥ ४ ॥

बनजारा ताल

गुरु मारग भूला हमारा । इक तुही बतावनहारा ॥टेक॥
कोई तीरथ विच भरमाया । कोई योग-यज्ञ फ़रमाया ॥
कोई पूजन-मूर्ति उचारा ॥ गुरु० ॥ १ ॥

तिय, पुत्र आदि धन माया । अरु सुर-लोकहु को पाया ॥
नहिं नाथ ! मिटा दुखभारा ॥ गुरु० ॥ २ ॥

जहँ-जहँ सुख-हेतु लुभाया । तहँ-तहँ दुख अति ही पाया ॥
सब माया-जाल-पसारा ॥ गुरु० ॥ ३ ॥

अब शरण पड़ा अकुलाई । जिमि 'राम' तुरत मिटि जाई ॥
मम जन्म-मरण-दुख सारा ॥ गुरु० ॥ ४ ॥

क्या सोवत नींद पसारी । करु मारग की तैयारी ॥टेक॥
तव मारग अगम अपारा । नहिं पास रहा कछु चारा ॥
सँग-साथी सभी सिधारी ॥ करु० ॥ १ ॥

यहाँ नित्य मुसाफिर आते। पै रहने नहीं वे पाते ॥
कैसी सराय यह भारी ॥ करु० ॥ २ ॥

व्यापार करन को आया। तूने सब मूल गवाँया ॥
अब रैनि बीति गयी सारी ॥ करु० ॥ ३ ॥

होगा हिसाब जब भाई ! देगा जवाब क्या जाई ॥
भज 'राम' राम सुखकारी ॥ करु० ॥ ४ ॥

प्रभु धन्य तिहारी माया। नहिं जान किसीने पाई ॥टेक॥
था एक ब्रह्म अविकारा। तुम होना बहुत विचारा ॥
निज इच्छा-प्रकृति पसारा। उसने सब सृष्टि बनायी ॥ ३ ॥

वह प्रथम बुद्धि उपजावे। पुनि अहंकार सरसावे ॥
फिर पाँच विषय फैलावे। जिनमें नर रहे भुलाई ॥ २ ॥

छिति अनल गगन जल वायू। करि पाँच तत्व ये नाऊँ ॥
दश इन्द्रिय पुनि तेहि ठाऊँ। मन ता पीछे ठहराई ॥ ३ ॥

ये सब सामग्री रच कर। यह जगत दिखाया सच कर ॥
तुम 'राम' अकेला बचकर। इसमें नित रहें समाई ॥ ४ ॥

ग़ज़ल

सनातन ब्रह्म पूरण हो, महादेव शिव शंकर हो ॥टेक॥

गले विच मुण्ड की माला, कमर में व्याघ्र की छाला ।
रमाये भस्म अंगों में, गले धारी विषंधर हो ॥ १ ॥

लिये कर-शूल-डमरू को, वसह के पीठ पर राजें ।
योगिनिगण भूत-प्रेतों से, बने कैसे भयंकर हो ॥ २ ॥

हलाहल-पान कर लीन्हा, त्रिपुर-वध एक शर कीन्हा ।
जटा शिर सुरसरी भाले, किये धारण सुधाकर हो ॥ ३ ॥

किया तब मुख्य गण अपना, जब नन्दी जाय-बन टेरा ।
शरण में 'राम' हू आया, दयानिधि तुम दयाकर हो ॥ ४ ॥

गज़ल

दयानिधि दीन-हितकारी, हमारी भी खबर लेना ॥टेक॥
अजामिल गृद्ध गणिका को, कृपा करि आपने तारी ।
दया करि आज हमको भी, पतित-पावन शरण देना ॥ १ ॥

चरण-कमलों में भक्ती हो, हमें गुरुजन में श्रद्धा हो ।
कथा प्यारी तुम्हारी हो, समागम संत का देना ॥ २ ॥

करूँ उपकार दीनों का, न जीवों से घृणा उपजे ।
हटाकर द्वेष ईर्षा को, हृदय में शीलता देना ॥ ३ ॥

सरल चित शान्त हो मेरा, परायी वस्तु ना चाहूँ ।
हमें निज रूप की झाँकी, दिवस-निशि 'राम' तुम देना ॥ ४ ॥

गजल ताल

जगदीश ईश मेरे, तेरे शरण में आये।
दीजै हमें सहारा, भव-रोग हैं सताये ॥ टेक ॥

इन चारि खानि माहीं, दुनिया सकल बनाई।
सबमें रहा समाई, मूरख न मर्म पाये ॥ १ ॥

रवि, चन्द्र और तारे, गिरि, वृक्ष सिन्धु-धारे।
फल, पुष्प, अन्न न्यारे, तूने सकल बनाये ॥ २ ॥

ऋतुएँ सदा बदलतीं, फूलों की पंक्ति खिलतीं।
तरु-पत्तियाँ भी हिलतीं, तेरे हुकुम चलाये ॥ ३ ॥

गुण-गान करके हारे, मुनि-वेद-शास्त्र सारे।
यह 'राम' हू पुकारे, कोई न अन्त पाये ॥ ४ ॥

गज़ल ताल

नर मूढ़ क्यों भुलाया, दिल में करो विचारा।
चिरकाल का नहीं है, सुत-बाँधवा-सहारा ॥ टेक ॥

आनन्द जाहि माना, उसका न मर्म जाना।
मृग-नीर के समाना, सब झूठ ही पसारा ॥ १ ॥

घृत डालने से जोती, कबहूँ न शान्त होती।
तृष्णा अधिक सु-बढ़ती, भोगे विषय अपारा ॥ २ ॥

तेरा शरीर झड़ता, जैसे कपूर उड़ता।
किमि मोह-सिंधु पड़ता, जल्दी गहो किनारा ॥ ३ ॥
वह नन्द का दुलारा, कृष्णचन्द्र प्यारा।
जो 'राम' का सहारा, रक्षक सदा तुम्हारा ॥ ४ ॥

सवैया-सुन्दरी

तजि मान-गुमान सदा दिल से,
हरि-नाम भजो नर! जो सुखकारी।
शिर काल बली नित नाचत है,
नहिं सूझ परे तुझको कुविचारी ॥
हिरणाकुस रावण कंस बली,
घननाद सभी न बचे बलधारी।
सब धूल मिले धन-धाम-धरा,
हरि-नामहिं 'राम' सु-सत्य विचारो ॥ १ ॥

तुम रे मन! मानहु बात कही,
कलि में हरिनाम सजीवन मूरी।
तजि नाम भजे विषया नर जो,
शिर पै निज हाथ चलावत छूरी ॥
मृग के सम तू भटके जग में,
तजि नाम भरा जिसमें सुख भूरी ॥

सुनु रे हतभाग्य ! सुधा तजि के,
तुम 'राम' सप्रेम चबावत धूरी ॥२॥

सवैया किरीटी

बाज लख्यो निज छाँह शिला,
जिमि जानि विहङ्गम चोंच नसायो ।
कूदि मर्‌यो वह सिंह कुआँ,
जब आपुहिं को मन आन बसायो ॥
काँच गृहे लखि रूप निजे,
जिमि श्वानहु प्रान सु-भूँकि गँवायो ।
'राम' लखा जग को निज से,
जब भिन्न तबै दुख-जाल फँसायो ॥१॥
दौड़ि मर्‌यो मृग आतप में,
जल के भ्रम सों पर वारि न पायो ।
तारन-बिम्ब मराल लख्यो,
भ्रम मोतिन के तन पङ्क फँसायो ॥
धूम में वारिद के भ्रम सों,
तकि चातक ज्यों निज नैन गवाँयो ।
आनँद मानि लिया जग में
तिमि 'राम' कभी बिसराम न पायो ॥२॥

सवैया—सुन्दरी

अपकीर्ति हुई जिसकी जग में,
उसको अब मृत्यु कहाँ चहिये ?
जब क्रोध बसे जिसके उर में,
उसको तब सर्प कहाँ चहिये ?
नित शील बसे जिसके तन में,
तब भूषन ताहि कहाँ चहिये ?
जिसका मन शुद्ध हुआ उसको,
अब 'राम' सुतीर्थ कहाँ चहिये ? ॥१॥

सम-तोष बसें जिसके उर में,
उसको धन और कहाँ चहिये ?
नित शान्ति बसी जिसके उर में,
उसको वर नारि कहाँ चहिये ?
हरि-भक्ति बसी जब 'राम' हिये,
उसको सुख आन कहाँ चहिये ?
जब आतम-ज्ञान हुआ उर में,
तब और सुलाभ कहाँ चहिये ? ॥२॥

कवित्त

परम पुरुष जगदीश्वर सकल घट,
बसत रहत मम स्वामी दीनानाथ है।
दुष्टन संहारत उबारत है भक्तन को,
श्रवण-सुखद यश सोई मम साथ है॥
त्राहि-त्राहि भने 'राम' भव-त्रास-दुःखित ह्वै,
चरण-कमल में परत यह माथ है।
देर जनि लाओ, अब देर जनि लाओ नाथ!
कीजै बेड़ा पार सुविशाल तव हाथ है॥१॥

बालक अजान गुण-ज्ञान से विहीन नाथ!
ऐसो नाहीं धन जाको दीनन को दीजिये।
मन को मलीन तन-छीन सब विधि-हीन,
बुद्धि-विद्या नाहीं किमि पूजा-पाठ कीजिये॥
काम क्रोध मद लोभ जन्म रु मरण-दुःख-
दुःखित बेहाल शोक-मोह हू से छीजिये।
शरण-सुखद जानि शरण में आया 'राम',
दीनबन्धु, दीनानाथ! मेरी सुधि लीजिये॥२॥

द्रोपदी पुकारी तव चीर को बढ़ायो नाथ!
गज की पुकार सुनि द्वारिका से धायो है।

आवाँ में मँजारि अरु भारत में पंछी एक,
व्याध के विवश से कपोत को बचायो है ॥
पावक से पाण्डव, प्रह्लाद अरु हनूमान,
छिन में उबारि सुख-शान्ति पहुँचायो है ।
कहाँ लौं गिनाऊँ नाथ ! पार नहिँ पाऊँ 'राम',
मेरी बेरी एती देरी कहाँ तू लगायो है ? ॥३॥

तन्दुल सुदामा-गृह सेवरी-सुबेर खायो,
गणिका अजामिल श्वपच गृद्ध तारो है ।
अर्जुन-भीषम प्रण राख्यो महाभारत में,
भक्तन पियारे तुम, तेरो भक्त प्यारो है ॥
सन्तन उबारो खल-दुष्टन संहारो नाथ !
महिमा अपार तेरी जगत से न्यारो है ।
'राम' नाहिं भक्त, यदि पतित, न पतित हू,
निज अंश जीव नाते काहे न उबारो है ॥४॥

गिरि को उठाय गिरिधारी भयो बनवारी,
व्रज को बचायो जब इन्द्र कोप कीन्हा है ।
पूतना संहारो अक-बक आदि मारि डारो,
कंस को पछारि प्रान-नाश करि दीन्हा है ॥

अवध-विहारी रघुराज महाराज खर-
दूषन मारीच कालनेमि वध कीन्हा है।
मुनिन मिटायो त्रास रावन-विनाश करि,
आरत पुकारे 'राम' काहें नहिं चीन्हा है ॥५॥

गंग जगदम्ब अवलम्ब शरणागत को,
देत न विलम्ब लावें ऐसो महारानी हैं।
धवल-उतंग जल-धार सुतरंग लखि,
पावत महान सुख उर महँ ज्ञानी हैं॥
यम-दूत-नाशी उर-ज्ञान की प्रकाशी भव-
रुज की विनाशी सुख-राशी अति दानी हैं।
'राम' नहिं पावें पार श्रुति-शेष-शारदहू,
राति-दिन गावें यश सब गुन खानी हैं ॥६॥

तात मात भ्रात सुत सकल सनेही जग,
छुटि जइहैं सेवक सु-स्वामि अरु वाम रे।
राज सब साज गज-बाज धन छुटि जइहैं,
सुन्दर सुखद छुटि जइहैं तव धाम रे॥
तन जरि जइहैं यह चिता पै पलक माहिं,
छुटि जइहैं मित्रगण सुहृद ललाम रे।

बात को बिचारि असि प्रेम सों भजहु 'राम,'

परमेश्वर से अन्त सबही को काम रे ॥७॥

कहाँ हरिश्चन्द्र कर्ण बलि अब दाना गये ?

कहाँ दुरयोधन जनक महिपाल हैं ?

शुक-सनकादि ज्ञानी तपसी दधीचि कहाँ ?

वीर अरजुन कहाँ भरत-सुचाल हैं ?

कपिल वशिष्ठ मुनि-ध्यानी न दिखाहिं आज,

दृढ़ व्रत-धारी कौन भीषम का हाल है ?

कठिन कुरीति 'राम' रहत चलावत है,

क्रूर अभिमानी निरदयी हाय ! काल है ॥८॥

जान नर जान अब अपनो स्वरूप जान,

सत चित सुख शुद्ध मुक्त तेरो रूप है।

वासना को त्यागु, गुरु-संत-अनुरागु जेहि,

सहज स्वरूप ज्ञान होवै जो अनूप है ॥

कर्म रु उपासना से चित्त शुद्ध-शान्त करु,

ओम-ओम जाप करु छूटे भव-कूप है।

काहु से न बोल कछु अपने में मस्त रहु,

तूतो शिवरूप 'राम' भूपन को भूप है ॥९॥

कोई तो कहत ब्रह्म तीरथ में वास करे,
कोई तो कहत यज्ञ-मण्डप मुकाम है।
कोई तो कहत तप-व्रत महँ रहे वह,
कोई तो कहत बसे जहाँ हरि-नाम है॥
कोई तो कहत रहे हृदय कमल-विच,
कोई तो कहत बिच त्रिकुटि में धाम है।
अखिल जगत-बिच जड़ रु चेतन माहीं,
'राम' नहिं देखा जहाँ नाहीं ब्रह्म-ठाम है ॥१०॥

छन्द-हरिगीतिका

सोये हुये बहु दिन बिते, अब जाग रे, नर नाग रे!
कंचन रु कामिनि जाल से, तू भाग रे, नर भाग रे!
सब वस्तु से ममता-अहंता, त्याग रे, नर त्याग रे!
आनन्द सत चित रूप में, कर नित्य तू अनुराग रे!

गाना-ग़जल

अब कार्य मुझसे क्या हुआ, क्या तत्त्वविद् यह जानता?
देहेन्द्रियों के कार्य को, क्या भूलकर निज मानता? ॥टेक॥
जब चन्द्र भानि हैं दरवतीं, अरु सिन्धु-लहरें उमड़तीं।
उर-प्रीति पपिहा सरसती, क्या चन्द्रमा वह जानता? ॥१॥

भानु को लखि कमल खिलते, चक्र-चाक रु हुलसते ।
निकले अगिनि रवि-उपलते, तो क्या दिवाकर जानता ?॥२॥

ऋतुराज के आगमन से, बन-बीच हरियाली बसे ।
फल-फूल वृक्षों में लसे, ऋतु-ईश क्या सब जानता ?॥३॥

आकाश के अवकाश से, जग-काज होहिं सुपास से ।
रहता पवन भी आश से, तो 'राम' नभ क्या जानता ?॥४॥

गज़ल ताल

ऐ धीर-वीर ज्ञानी, सब विश्व का दुलारा ।
लाखों प्रणाम तुमको, स्वीकार हो हमारा ॥ टेक ॥

कुल वो कुटुम्ब छोड़ा, रिस्ता तमाम तोड़ा ।
मुख स्वर्ग-सुख से मोड़ा, जग से हुआ किनारा ॥ १ ॥

आँखों में तेरी मस्ती, करती सदैव बस्ती ।
उसकी अपार हस्ती, वरसे सुधा की धारा ॥ २ ॥

डूबा रहे रैन-दिन, झूमा करे तु छिन-छिन ।
आये शरण में जिन-जिन, उनकी विपत्ति टारा ॥ ३ ॥

पी प्रेम का पियाला, जीवन किया निहाला ।
वर्णन तेरा निराला, ऐ 'राम' रूप प्यारा ! ४ ॥

गङ्गाष्टक-सवैया

हरि के पग से निकली जननी,
जग में अघ-ओघ नसावन हेतू।
करि मज्जन - पान-समागम को,
नर पावत है मन भावत जेतू॥
सुर-सिद्ध निवास करें तट पै,
सुख-शान्ति हिये सरसावनि-सेतू।
हम भी तव ध्यान धरें जननी,
बल-बुद्धि विशाल बढ़ावन हेतू॥१॥

तप कीन्ह भगीरथ घोर जबै,
तब मातु कृपा करि तारन आई।
जल उज्ज्वल धार महा शुचिता,
लखि चित्त रहा सुख से हुलसाई॥
कल कीरति छाय रही जग में,
जन गान किये अणिमादिक पाई।
शिव सादर शीश चढ़ाय लिये,
महिमा तुम्हरी श्रुति-शारद गाई॥२॥

सुकृती जन हैं तिनहीं जग में
जिन ध्यान किया दिन रैन तिहारी।

नर धन्य वही मनसे जिसने,
जल पान किया भव-भेषज भारी ॥
धनि ग्राम वही तट पै बसि के,
नित दर्शन से परलोक सँवारी ।
भव-सागर से कर पार हमें,
पदपङ्कज की बस आस हमारी ॥३॥

मुनि-वेद-गिरा जब नेति कहें,
हम मूढ़ कहाँ तव जानहिं हाला ।
कलि-कामद-गाय कहें तुझको,
सब शास्त्र-पुरान जपें गुन-माला ॥
उर-भक्ति, विवेक-विराग नहीं,
कुछ साधन भी न बने ततकाला ।
तुम दो अवलम्ब हमें जगदम्ब,
विलम्ब लगे न ज़रा एहि काला ॥४॥

शुचि सुन्दर घाट मनोहर है,
जल में अवली छवि सोह अली को ।
वन-बाग हरे उपबाग भरे,
तट-वाटिक-पुष्प खिलें नित नीको ॥

पिक चातक कोक मयूर करें,
कल गान रुचें सिकता-कन ही को।
मुनि तीर कुटीर बनाय बसें,
मद काम तमाम गये खल जी को ॥५॥

दुख-पुञ्ज हरे पद-पङ्कज-रेनु,
दुती तन की तम-मोह विनासे।
कटि-किङ्किणि की धुनि को सुनि के,
मृग-चित्त रुके पट पीत प्रकासे ॥
कर-कङ्कन मोतिन-माल गले,
श्रुति कुण्डल देखत बुद्धि विकासे।
सिर-वेनि लसे छवि नागिनि-सी,
भव भेक-ग्रसे जब ध्यान-निवासे ॥६॥

मुख मण्डल शान्त प्रसन्न सदा,
तन मानहु ज्ञान-स्वरूप सही है।
झषराज-वरासन पै जननी,
तव मूर्ति मनोहर भ्राज रही है ॥
वर निर्भय पाइ लियो सुख से,
कर-पङ्कज की जिन छाँह गही है।

अनपायिनी भक्ति मिले हमको,
बस और नहीं कुछ 'राम' चही है ॥७॥

गिरिजा सिय शारद कालि रमा,
परसिद्ध तुम्हीं दुरगादिक-से हो।
परमेश्वर की तुम शक्ति अरी!
तुमही प्रकटी जगदादिक से हो॥
जग भिन्न नहीं तुमसे, तुमतो,
नहीं भिन्न कभी जगदीश्वर से हो।
करि मातु! कृपा उर ज्ञान भरो,
जिमि 'राम' हु भिन्न न ईश्वर से हो॥८॥

ॐ शान्तिः! शांन्तिः!! शान्तिः!!!

इति गंगाष्टक—सवैया

इति स्वामी श्री रामाश्रमेण विरचिता
भजन मुक्तावली समाप्ता।

रामाश्रम ग्रन्थमाला की पुस्तकें—

पहला पुष्प—ज्ञानामृत

दूसरा पुष्प—भव भञ्जन

तीसरा पुष्प—आत्म-प्रकाश

चौथा पुष्प—प्रेम, वैराग्यादि नाटिका

मिलने का पता—श्रीमान् पं० रामप्रसाद जी मिश्र ग्रा० मुनापुर, पोस्ट मझौवाँ, जिला—बलिया।

पाँचवाँ पुष्प—श्री रामगीता (भाषानुवाद)

छठाँ पुष्प—वेदान्त-तुर्या—यह आपके हाथ में है।

सातवाँ पुष्प—भजन मुक्तावली—यह भी आप के हाथ में है।

पता—श्री मान बाबू परमहंस राय (चौधरी), ग्रा० शेरपुर बड़ा, पोस्ट-कुंडेसर, जिला गाजीपुर।

सूचना—विदित हो कि रामाश्रम-ग्रन्थमाला की पुस्तकें सदाचार, भक्ति, तथा ज्ञानादि के प्रचार के लिये हैं, अतः जिन जिज्ञासुओं को आवश्यकता हो, वे केवल डाकखर्च के लिये लिफाफा द्वारा टिकट भेजकर मंगा सकते हैं।